जीवन विवेचन

भाग-४

परम पूज्या दिव्य ज्योति देवकी माताजी के प्रवचन

(कैसेट नं. 31 से 40 तक)

मानव सेवा संघ प्रकाशन

वृन्दावन-मथुरा

जीवन विवेचन

भाग ४

परम पूज्या दिव्य ज्योति देवकी माताजी के प्रवचन

(प्रवचन संख्या ६३ से ८२ तक)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ
वृन्दावन - २८११२१ (मथुरा)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : दिसम्बर, १६६१
द्वितीय संस्करण : सितम्बर, १६६७

मूल्य Rs 30

मुद्रक :
चित्रलेखा
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन • दूरभाष : ४४२४१५, ४४३४१५

ॐ

प्रार्थना

(प्रार्थना, आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृत-कृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ सं०
प्रवचन ६३	५
प्रवचन ६४	१६
प्रवचन ६५	३२
प्रवचन ६६	४२
प्रवचन ६७	५४
प्रवचन ६८	६५
प्रवचन ६९	७६
प्रवचन ७०	८७
प्रवचन ७१	१०४
प्रवचन ७२	११७
प्रवचन ७३	१३०
प्रवचन ७४	१४१
प्रवचन ७५	१५३
प्रवचन ७६	१६२
प्रवचन ७७	१७६
प्रवचन ७८	१९२
प्रवचन ७९	२०२
प्रवचन ८०	२१६
प्रवचन ८१	२२९
प्रवचन ८२	२४४

प्रवचन

(63)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव जीवन का चित्र हम देख रहे हैं, इस उद्देश्य से, कि कैसे इसको सफल बनाया जाये? कैसे इसको पूर्ण किया जाये ? कैसे इसको सार्थक किया जाए? अब तक जो कुछ हमने सन्तवाणी में सुना है, सद्ग्रन्थों में पढ़ा है जीवन का अध्ययन किया है, उससे कुछ बातें आपके लिए स्वतः ही स्पष्ट है। उन पर विचार करें।

हम लोगों के व्यक्तित्व में विचार करने की शक्ति है और कुछ न कुछ कार्य करने की शक्ति भी है। साथ ही, प्रेमभाव, विश्वास, श्रद्धा-यह भी एक अनिवार्य तत्त्व है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता भी इस बात को मानते हैं कि क्रियाशक्ति और विचार शक्ति के साथ भावशक्ति की भी अनिवार्यता है मनुष्य के व्यक्तित्व में। शक्ति है हम लोगों के पास और उसी आधार पर खाने, पीने सोने और शरीर को सुरक्षित रखने के साथ-साथ प्रेम भाव के विस्तार की भी हम लोगों ने आवश्यकता महसूस की है। उसके आधार पर बहुत से व्यवहार भी हमारे होते हैं। बहुत से सम्बन्ध माने जाते हैं, मित्र-मण्डली भी बनाई जाती है अनेक ऐसी सांस्कृतिक गोष्ठियाँ हैं, जो केवल मनुष्य के स्वार्थ भाव को मिटाकर प्रेमभाव के विस्तार करने का इन्तजाम करती हैं। अब इस आधार पर देखिये। साधक होकर, सत्संगी होकर हम लोग विचार करें, तो यह स्पष्ट होता है कि दृश्य जगत् में जितनी भी वस्तुएँ और जितने भी व्यक्ति हमारे सम्पर्क में आये,

जिनसे हमने सम्बन्ध माना और विश्वास किया, उनसे हमारा सम्बन्ध मानना और विश्वास करना सफल नहीं हुआ, सार्थक सिद्ध नहीं हुआ। मनुष्य के जीवन में माता-पिता, सन्तान और पति-पत्नी का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ माना जाता है, वह विश्वास और सम्बन्ध भी हमेशा के लिए निभ नहीं सका। जब देखे हुए दृश्य जगत् में विश्वास सफल नहीं हुआ तो जिज्ञासा जाग्रत हुई कि किसमें विश्वास करें ? कौन विश्वसनीय है ? किसके साथ मेरा सम्बन्ध सदा के लिए निभ सकता है ? सन्त जनों ने, अनुभवीजनों ने कह करके सुना दिया। हमारे ऋषियों, मनीषियों ने जीवन की शोध की और सद्ग्रन्थों में लिखकर रख दिया कि भाई ! बिना देखा हुआ, बिना जाना हुआ जो सर्व का आधार है, उस परमात्मा में विश्वास करो। यह बात आज पहली बार आप सुन रहे हैं, ऐसा नहीं है। अनेक बार सुना हुआ है और दृश्य जगत् में विश्वास करने का परिणाम जो है वह भी किसी के कहने- सुनने से जानने में नहीं आया, वह भी अपने जीवन का अनुभव है जहाँ-जहाँ विश्वास किया, सबको सुरक्षित न रख सकें। आज भी जहाँ-जहाँ विश्वास कर रहे हैं, सम्बन्ध मान रहे हैं उनके बारे में भी कोई निश्चित नहीं है कि हमेशा के लिए निभेगा। यह क्षेत्र ही ऐसा है कि जिसमें निश्चिन्तता नहीं आ सकती, निस्सन्देहता नहीं आ सकती, सदा के लिए आधार नहीं मिल सकता और विवेक के प्रकाश में उसको दिखाई देने लगता है कि यहाँ कुछ भी विश्सनीय नहीं है। यह किसी व्यक्ति विशेष की बात नहीं है, यह मानवमात्र की विशेषता है कि वह दृश्य जगत् में विश्वास भी करता है और उसमें सम्बन्ध भी मानता है। लेकिन थोड़े ही समय में उसकों पता चल जाता है कि जहाँ-जहाँ मैंने विश्वास किया, जिस-जिस से सम्बन्ध माना, वह सब dependable नहीं है, निर्भर रहने के लायक नहीं है, आश्रय लेने के लायक नहीं है।

मैंने श्री महाराज जी के पास विदेश से आया हुआ एक पत्र पढ़ा था। एक घोर भौतिकवादी और बड़े ही कर्मठ वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता ने पत्र में लिखा था-

"हमने जो कुछ किया और जो कुछ पाया, वह सब हवा में डोलता हुआ दिख रहा है। Our findings are baseless hanging in air इसलिए मैं भारत वर्ष में सन्तों के पास आना चाहता हूँ भारतीय सन्तों के पास कुछ ठोस हो तो मुझे मिल जाये। I want something solid. I want something more dependable. यह मनुष्य की विशेषता है। उसको किसी ने परमात्मा की भक्ति की चर्चा नहीं सुनाई थी। प्रह्लादजी की कथा नहीं सुनाई थी। मीराजी की कथा नहीं सुनाई थी। लेकिन वह एक मनुष्य है। मनुष्य में यह एक विशेषता है कि वह स्थूल दृष्टि से देहबुद्धि लेकर जगत् की ओर देखता है, उसकी ओर आकर्षित होता है, उसमें विश्वास करता है। और जब उसका विश्वास टूटता है तो उसे इस बात का साफ पता चल जाता है कि यह सब विश्वसनीय नहीं है। यब सब संबंध मानने के लायक नहीं है। इसमें स्थिरता नहीं है। यह रुकेगा नहीं, यह टिकेगा नहीं। यह मेरा साथ नहीं देगा। इस बात का पता मनुष्य को चल जाता है, चाहे वह किसी युग का, किसी देश का रहने वाला हो, चाहे किसी मजहब सम्प्रदाय का मानने वाला हो-इन बातों से उसके इस मौलिक प्रकाश पर कोई फर्क नहीं पड़ता।

अब हम लोगों पर तो कुछ ज्यादा जिम्मेदारी है, क्योंकि हम लोगों ने माता-पिता, प्रकृति, सरकार, परमात्मा-सबका सहयोग लेकर, यहाँ बैठकर जीवन पर विचार करना पसन्द किया है। अपने को सत्संगी कहा है और सब लोगों ने मिलकर हमारी सहायता की है। किस बात के लिए? इस बात के लिये कि अच्छा आ जाओ, तुमको रहने के लिए जगह भी देंगे, बीमार होगे तो दवा का इन्तजाम भी कर देंगे, सब इन्तजाम कर देंगे, आओ बैठों सत्संग करो। सब ने

मिलकर सहायता की है। अनेकों महापुरुषों का संकल्प इस क्षेत्र को बनाने में काम कर रहा है। जहाँ भी जाकर देखो इन बड़े-बड़े महात्माओं, महापुरुषों का यह शुभ संकल्प, कि संसार में भटकता हुआ पुरुष आकर बैठे, सत्संग करे, उसको सुविधायें मिलें, उसको प्रकाश मिले ! इन लोगों की, इन महात्माओं की कर्मठता, सद्भावना, इनकी सूक्ष्म शक्तियाँ इस पूरे सत्संग क्षेत्र में काम कर रही है।

अब देखिए, प्रकृति, परमात्मा, सन्त-महात्मा, सरकार, समाज, परिवार, सबका सहयोग हम ले रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि हम लोगों पर एक बड़ा दायित्व भी है। क्या दायित्व है ? कि जीवन-दाता ने विश्वास करने की सामर्थ्य देकर दुनिया में भेजा। और संसार की बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण करने के लायक, विवेक का प्रकाश भी देकर भेजा और उसके द्वारा अब तक के जीवन में हमने देख लिया कि दृश्य जगत् की प्रत्येक आकृति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। कुछ भी उसमें विश्वसनीय नहीं है, कुछ भी उसमें सुरक्षित (Safe-secure) नहीं है। सब बदल रहा है। इसको देखा, अनुभव किया। अपने को चाहिए एक अचल आधार। जो कभी बदले नहीं कभी मिटे नहीं, कभी छूटे नही। जिसमें विश्वास करें, तो वह विश्वास का केन्द्र हमारा अचल हो, अविनाशी हो, अनन्त माधुर्यवान् हो और हमारे माने हुए विश्वास को सदा के लिए निभा दे। ऐसा केन्द्र चाहिए। जेसे Dr. Boss ने पत्र लिखकर पूछा- I Want some thing solid तो उसको Something solid चाहिए था। एसे ही हम लोगों को विश्वास करने के लिए और सम्बन्ध मानने के लिए एक अचल आधार चाहिए कि जिसमें विश्वास करो तो वह कभी टूटे नहीं और जिससे सम्बन्ध मानों तो कभी छूटे नहीं। अब आज इन महापुरुषों के संकल्प से अभिषिक्त इस धरती पर बैठकर आपना और आपको दायित्व मै याद दिला रही हूँ! सोचकर देखो-ग्रन्थों में भी पढ़ लिया, सन्तों से भी सुन लिया, अपने

जीवन में भी देख लिया। इन सारी बातों का प्रभाव आज तक अपने पर कितना हुआ? जो विश्वसनीय नहीं है, उसमें से हम लोगों ने अपना विश्वास उठा लिया है क्या ? सोचो।

अब दूसरी ओर देखो। अनन्त परमात्मा में जिन्होंने विश्वास किया, जिन्होंने उनसे सम्बन्ध माना वे सदा-सदा के लिए निर्भय हो गये, निश्चिन्त हो गये, उनको कोई भय नहीं रहा, कोई चिन्ता नही रही, कोई अभाव नहीं रहा। उन्होंने डंके की चोट पर घोषित करके दुनिया को सुना दिया कि भाई, वे ही एक अचल आधार हैं, वे ही विश्वास करने के लायक हैं, वे ही सम्बन्ध मानने के लायक हैं। अगर तुम जीवन को रस से भरपूर करना चाहते हो तो उस रस स्वरूप परमात्मा में विश्वास करो और उसी से सम्बन्ध मानों ऐसा सन्तों ने हम लोगों को बताया। इधर का सारा सहारा तो डगमगाता हुआ दिखाई दे रहा है। संसार ने अपने स्वरूप का दर्शन कराके, आधा काम तो हम लोगों का करा ही दिया है। अब केवल इतना हिस्सा रह गया है कि बिना विश्वास किए रह नहीं सकते और विश्वसनीय केवल एक ही है, जिसका नाश नहीं होता है। अपना सम्बन्धी मानने के लायक केवल एक ही है जो सदा के लिए सम्बन्ध निभा देने में समर्थ है। तो उसी को अपना मानो, उसी में विश्वास करो। यही सफलता का आधार है।

अब अपन लोगों की दशा देखिए। हम लोगों में से बहुतों ने विधि-विधान से, कायदे से वैष्णव मत के अनुसार ईश्वरीय सम्बन्ध की दीक्षा ली होगी। और कुछ लोगों ने विधि-विधान से नहीं, अपितु मेरी तरह जीवन की आवश्यकता देखकर सम्बन्ध माना होगा। तो सभी भाई-बहिन जो यहाँ बैठे हैं, ईश्वर में विश्वास करने वाले, ईश्वर का आश्रय लेने वाले और ईश्वर के सम्बन्ध को मानने वाले- सभी अपना चित्र अपने सामने रखकर देखिये, कि आज भी ईश्वर विश्वास और ईश्वर सम्बन्ध की जीवन में प्रधानता है या अभी भी

नाशवान का सम्बन्ध और नाशवान में विश्वास प्रधान है। कौन ज्यादा जोरदार लग रहा है, देखो तो सही। अगर अभी भी नाशवान का विश्वास ज्यादा जोरदार लग रहा है, तो यह बड़ी भारी भूल है। यह भूल जब तक हम लोग मिटायेंगे नहीं, तब तक मस्तिष्क में से व्यर्थ चिन्तन मिटेगा नहीं।

समझाने वाले ज्यादा समझा देंगे तो काम बनेगा? नहीं बनेगा। समझाने वालों ने अपनी तरफ से उठा नहीं रखा। स्वामीजी महाराज ने पच्चीस दिसम्बर को, मोक्षदा एकादशी को निश्चय कर लिया था शरीर त्याग देने का। उसके एक दिन पहले तक भी जो जो उपयोगी बातें हमारे लिए उनके ध्यान में आई, वे कहते ही रहे, रुके ही नहीं किसी प्रकार से। डॉक्टर लोग मना कर रहे थे, हम लोग प्रार्थना कर रहे थे कि महाराज जी! अब बोलना बन्द कर दीजिए, अब बोलना बन्द कर दीजिये। पर वे कभी-कभी मौज में आ जाते तो हँस देते और कहते- अरे भाई ! जाने वाला जा ही रहा है, जो बन पड़े इससे काम ले लो यह रहेगा तो है नहीं, यह जायेगा ही। अतः उपयोगी बातें कहते ही रहे अन्त समय तक और जब कोई ज्यादा आग्रह करे कि स्वामीजी महाराज, अब आपको विश्राम लेना चाहिए तो एकदम से उनका हृदय उमड़ आता और कहते-ये जो मेरे चारों और मेरे संगी-साथी, मित्रगण खड़े हैं उनमें से एक भी मित्र मुझे पराधीन दिखाई देता है तो मैं आराम कैसे लूँ ?

कहने वालों ने कम नहीं कहा, लिखने वालों ने कम नहीं लिखा।

सृष्टिकर्त्ता, विधाता ने सृष्टि बनाई तो विधान पहले बनाकर प्रस्तुत किया, पीछे हम लोगों को सृष्टि में भेजा। इन्तजाम करने वालों ने सब इन्तजाम किया। इसलिए मैं तो इस बात में विश्वास करती हूँ कि अपनी जिम्मेदारी अपनी आँखों से बिल्कुल स्पष्ट करके देखिये, तो आपके भीतर जागृति आएगी। अच्छी बातों की जानकारी

कम नहीं है हम लोगों को। दूसरों को सुनाना हो तो बहुत-सी अच्छी बातें सुना सकते हैं। बहुत सी बातें हम लोग जानते हैं। कुछ नहीं भी जानते हैं, ऐसा भी है लेकिन कम से कम जितने से अपना विकास हो सकता है, उतनी अच्छी बातों को तो सभी भाई-बहिन जानते हैं। सन्त महापुरुषों की सद्भावना की कमी नहीं है। प्रभु की कृपालुता की कमी नहीं है। फिर भी सत्संग में आकर सुनने का आनन्द लेने के बाद भी समस्या हल नहीं होती है तो ऐसा सोचना चाहिए कि दूसरे सबने अपना- अपना काम, अपनी अपनी जगह पर ठीक ठीक कर दिया। केवल मेरी ही कमी है, मैं ही अपना दायित्व पूरा करने में पीछे हूँ इसलिए काम पूरा नहीं हुआ। अगर आपको यह बात जँचती हो तो मानो, और मानो तो इससे चेतना आयेगी, जागृति आयेगी।

एक दिन बैठकर मैं सोच रही थी तो मेरे ध्यान में आया कि शबरीजी के गुरुजी ने महर्षि मतंग ने एक ही बार तो कहा था कि मेरे शरीर त्यागने का समय आ गया है, मैं शरीर त्याग दूँगा, और शबरीजी ! आप इसी आश्रम में रहियेगा। भगवान आयेंगे तो यहाँ आकर आपको दर्शन देंगे।

एक बार का गुरु का कहा हुआ वाक्य, उस भक्त महिला के जीवन का महामन्त्र बन गया। मैंने तो अनेकों बार सुना- प्रभु तुम्हारे अपने हैं। प्रभु तुम्हारे अपने में है। महाराज जी ने यहाँ तक कहा- मैं। मानती नहीं थी सहज से , तो यहाँ तक कहा, लाली ! देखो, परमात्मा तो जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। तुम भूल गई हो इसलिए मेरे कहने से स्वीकार कर लो। कितनी करुणा, कितनी लगन है, भटके हुए व्यक्ति को सही रास्ते पर लगाने की। ऐसा, जैसे कोई आदमी किसी से निहोरा करता हो कि मेरा यह काम कर दो। ऐसी निहोरे की वाणी में स्वामीजी महाराज हमको सुनाते थे। बार-बार कहते थे-' परमात्मा को मालूम ही है, वे तो जानते ही हैं

कि तुम उनकी अपनी हो। उनमें विस्मृति का कोई दोष नहीं है।' उनको तो अच्छी तरह से मालूम है कि हम सभी उन्ही के बच्चे है। हम सब उनके अपने ही हैं - मैं भूल गई और दुनियाँ में अनाथ बनकर दुःखभरी दृष्टि से खोजती फिर रही हूँ। सन्तों के हृदय में करुणा द्रवित होती है उन्होंने अनेक ढंग से एक ही बात को कहकर सुनाया।

अब आज, अपने लिए, हर भाई- बहिन के लिए बड़ा आवश्यक प्रश्न है कि हम जानते हैं कि संसार विश्वास करने के लायक नहीं है तो उसमें से विश्वास उठाया क्यों नहीं ? सोचिए ! यह प्रश्न अपने से पूछिए। हमने सुना है कि परमात्मा ही विश्वसनीय है, वे ही एक हमारे विश्वास के केन्द्र हैं उन्ही में किया हुआ विश्वास सदा-सदा के लिए निभता है। वे ही सर्वज्ञ हैं। वे ही समर्थ हैं, वे ही परम-प्रेम के अथाह सागर हैं। उन्हीं का प्रेम-रस हमारे जीवन के जन्म जन्मान्तर के अभावों को मिटा सकता है। सुख भोग की तृष्णा ने जीवन का रख सुखा दिया, नाशवान में आसक्त होकर अपनी दुर्गति कर ली। आपको मालूम है,यह बिल्कुल वैज्ञानिक सत्य है, कि जिसके जीवन में परम-पवित्र मधुर प्रेम-रस का संचार नहीं हो जाता उसकी नीरसता का नाश नहीं होता है। और नीरसता का नाश नहीं होता तो व्यर्थ चिन्तन नहीं मिटता। व्यर्थ चिन्तन नीरसता की प्रतिक्रिया है। व्यर्थ चिन्तन को देखकर अपने मन को गाली देने से लाभ नहीं होता है। जो रस का अथाह सागर है उससे अपने को जोड़ने से काम बनता है। अब अपने पर दायित्व कितना बड़ा है देखो। कितने दिन हो गये। कितनी बार हमने सुन लिया, कितनी बार ग्रन्थों में पढ़ लिया। विश्वास करने के लायक केवल परमात्मा ही है। अब और कितना समय लगायेंगे हम लोग इस दिशा में ? अब इसलिए हमें उस अनन्त परमात्मा में विश्वास कर ही लेना चाहिए। कभी-कभी गोस्वामी तुलसीदास जी की वाणी याद आ जाती है, तो अपने

को कहती रहती हूँ मैं "एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास" यह सन्तवाणी मेरे जीवन का मंत्र कब बनेगी ? बड़ा गहन सत्य है यह जीवन का, बड़ा ही गम्भीर विषय है यह ज़ीवन का। इसको हल्के हल्के ढंग से कहते सुनते रहने से काम नहीं बनेगा।

अब आपकी कठिनाई पर आती हूँ। कोई साधक कहे कि क्या करें ? परमात्मा में विश्वास करना चाहते हैं, लेकिन कर नहीं पाते हैं डर लगता है। क्या डर लगता है भाई ? कि देखने में आया नही, समझ में आया नहीं, क्या जानें है कि नहीं-ऐसा सन्देह किसी में हो सकता है। तो सोचो भाई-सत्ता में ही सन्देह कर लो, तो विश्वास कैसे जमेगा। अरे देखने की चेष्टा मत करो, परमात्मा को पसन्द करो। मुझे यह बात बहुत अच्छी लगी थी। मैं सोचती कि बड़ा अच्छा हुआ कि देखे हुए दृश्यों में परमात्मा शामिल नहीं हुए। देखा हुआ दृश्य जिस प्रकार से मेरी आँखों के सामने से ओझल होता चला जा रहा है, अगर परमात्मा भी इन दृश्यों में ही शामिल हो जाता, वह भी भाग जाता, तो मैं क्या करती ? इसलिए उनका अदृश्य होना मेरे लिए बड़ा कल्याणकारी है यह तो हुई मेरे मन की बात। और सामान्य बात क्या है ? सामान्य बात यह है कि भाई ! समझने की कोशिश मत करो क्योंकि परमात्मा तुम्हारी बुद्धि की सीमा में समायेगा नहीं। बुद्धि तो सूक्ष्म शरीर का व्यापार है। जो नाशवान शरीर का व्यापार है, उसमें वह अविनाशी अँटेगा कैसे? समझ में नहीं आता है क्योंकि वह समझने का विषय नही हैं, और देखने में नहीं आता है क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसलिए देखने की चेष्टा मत करो। समझने की चेष्टा मत करो। बिना देखे, बिना समझे बहुत सी बातों को जीवन में हम लोगों ने धारण किया है। गलत सलत बातों को मानने से कष्ट पाते रहे हैं। अब गुरु की वाणी मे विश्वास करके, ग्रन्थों के वाक्यों में श्रद्धा करके, बिना देखे, बिना जानें को मान लिया जाये एक बार। मान लेने का

फल यह होता है कि, माना हुआ जाना हुआ बन जाता है।

परमात्मा को मान लेने से, उनमें विश्वास कर लेने से अपने अहंरूपी अणु में ही ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि आज हमारी भोग बुद्धि होने के कारण, स्थूल दृष्टि से जीवन को देखने के कारण से उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वव्यापी, समर्थ, सर्वज्ञ का पता नहीं चल रहा है। परन्तु इस स्थूलता से जब हम ऊपर उठते हैं, जब इस जड़ता से हम मुक्त होते हैं, तो स्वयं अपने अहं में ही इतनी विलक्षणता आती है कि अत्यन्त रहस्यमय जो है वह अत्यन्त प्रत्यक्ष हो जाता हे। इसके बाद तो फिर ऐसा लगता है कि उसके सिवाय और कुछ है ही नहीं। इतना छा जाता है वह, भीतर-बाहर व्यक्त में, अव्यक्त में। सब प्रकार से ऐसा हो जाता है, कि कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता, अनुभवीजनों ने ऐसा कहा है। साधन काल में इन सब बातों का परिचय, वे परम कृपालु, हमारे जैसे भटकते हुओं को सँभालने के लिए दिला देते है।

साधन काल में वे परम कृपालु सत्पथ पर चलने वाले साधकों का उत्साह बढ़ाने के लिए, कि घबड़ा कर फिर यह यहाँ से से भटक न जाये इस बात के लिए, वे बड़ी सावधानी रखते हैं और जितना ही मैंने पहले उनकी आलोचना की थी, उतना ही अब मैं उनकी अभ्यर्थना करती हूँ। उनकी बड़ी कृपालुता है। वे बड़ा ध्यान रखते हैं, अब आपकी आगे की सहायता के लिए सन्तवाणी सुना दे रही हूँ।

इतना तो आपको मालूम हो ही गया, कि भाई, जिसमें विश्वास नहीं करना चाहिए, उसमें से विश्वास उठाना जरूरी है और जो वस्तुतः विश्वास को निभाने वाला है, उसमें विश्वास करना जरूरी है। इतना आपने मान लिया तो फिर पीछे लौट के नहीं जाना। अब आगे बढ़ो। आगे आपकी समस्या यह है कि क्या करें। मानना तो चाहते हैं पर माना नहीं जाता। विश्वास करना पसन्द तो है, पर

किया नहीं जाता। ऐसे असमर्थ साधकों के लिए श्री स्वामीजी महाराज ने यह कहा कि परमात्मा में विश्वास करना और उनमें विश्वास करने को आवश्यक मानना.ये दोनों ही समान फल देने वाले हैं। डरो मत तुम विश्वास माँगों, तुम्हें मिलेगा और तुम्हारा काम बन जायेगा। अगर तुमसे संसार के सम्बन्ध का त्याग करते नहीं बनता है, दृश्य जगत् का आकर्षण बारम्बार तुम्हें खींचता है, तो सोचो भाई, त्याग करना आवश्यक मानते हो, तो समर्थ स्वामी से सामर्थ्य माँगों. मिल जायेगी। अपनी स्वीकृति बहुत काम देती है। आप अपने द्वारा स्वीकार कर रहे हैं कि भगवान में विश्वास करने की जरूरत है। ऐसे आपके द्वारा जो स्वीकार किया हुआ है, वह विफल नहीं जायेगा। उसका जादू काम करेगा। अपने द्वारा जिस बात को मनुष्य स्वीकार कर लेता है वह स्वीकृति मिटती नहीं है। उसका प्रभाव होता है इसलिए आपकी सेवा में पत्र पुष्प अर्पण करने के लिए बैठी हूँ। आपका कल्याण हो, इसी में मेरा कल्याण है। इस दृष्टि से मैं कह रही हूँ आपसे। नाशवान में से विश्वास उठाना जरूरी है।

नाशवान की सेवा करना ठीक है, लेकिन उसको जीवन का आधार नहीं बनाना है। परमात्मा को जीवन का आधार बनाना जरूरी है। उसमें विश्वास करना आवश्यक है। ऐसा आप अपने भीतर से अनुभव करिये। चौबीस घण्टे में से दो, चार, पाँच, दस बार भी याद आता रहे कि आवश्यक बात तो यही है, पर अभी तक हम कर न सके। न कर सकने की एक पीड़ा जी में उठेगी तो सफलता मिल जायेगी। और भी, इससे भी नीचे दर्जे पर उतर आओ और छोटे क्लास के विद्यार्थी बन जाओ, कि ऊँचे क्लास में नही पहुँच सके तो कोई चिन्ता नहीं। मान लो भीतर में दुविधा रहती है, और बार-बार खिंचाव संसार की ओर होता है तो अकेले में बैठकर फिर परमात्मा के सामने रोओ-क्या करूँ? महाराज ! मैं चाहती हूँ विश्वास

करना, मेरे से हो नहीं सका। हे कृपालु! अब आप अपनी कृपा से ही अपना विश्वास मुझे दे दें। वे दे देंगे। आपको पता ही नहीं चलेगा कि कैसे-कैसे उन्होंने विवेक-विरोधी विश्वासों को तोड दिया। कैसे-कैसे सजाया हुआ खेल सब बिगाड़ दिया। और कैसे-कैसे उन्होंने अपना विश्वास दिलाकर, आपको निश्चिन्त और निर्भय कर दिया। यह सब होता है। मेरी प्रार्थना केवल इतनी ही है कि प्रति दिन जो भी अपने को जहाँ से मिल जाये, ग्रहण करने के लायक, उसे हम ग्रहण करें। छोटा से छोटा कदम उठाएँ जरूर। जैसे हम बैठे थे वैसे ही न उठे। अहं में परिवर्तन होता है तत्काल होता है, सुनते सुनते ही जीवन् बदलता है। पढ़ते-पढ़ते ही बड़ा भारी परिवर्तन आ जाता है। महापुरुषों के जीवन में ऐसा हुआ है। हम सभी भाई बहिनों को वह अभीष्ट है। इसलिए अपने को तैयार करके सुनने बैठे हैं और बोलना सुनना खत्म हो तो किसी न किसी प्रकार के फैसले से जीवन में अधिक उजाला लेकर अधिक प्रकाश लेकर इस भवन से बाहर निकले। ऐसा हो सकता है।

अब शान्त हो जाइये।

एक भाई को एक शंका हो गई है। उन्होंने प्रश्न पूछा है कि-

प्रश्न :- जब हमें प्रभु से भी कुछ नही चाहिए तो प्रार्थना क्यों ?

अच्छी बात, उनके भीतर यह शंका उठी है। स्वामीजी महाराज से जैसे मैंने सुना है, समाधान देने की कोशिश कर रही हूँ। प्रार्थना उसको नहीं कहते हैं जो किसी चाह की पूर्ति करने के लिए की जाए।

प्रार्थना का अर्थ है, जीवन की आवश्यकता अनुभव करना- मुझे सत्य चाहिए, मुझे अविनाशी जीवन चाहिए, मुझे नित्य योग चाहिए, मुझे प्रभु-प्रेम चाहिये। जो सत्य है, जो नित्य विद्यमान है, उससे अभिन्न होने की आवश्यकता जब जगती है, उसका नाम है-

प्रार्थना और वह अनिवार्य है। वह प्रार्थना तभी प्रारम्भ होती है जब भगवान से कुछ और नहीं माँगा जाता। धन चाहिए या स्वास्थ्य चाहिए, वस्तु चाहिए या मकान चाहिए, सुख-भोग चाहिए या लम्बी जिन्दगी चाहिए- ये सब जो लोग चाहते हैं उसके लिए भगवान से जो कुछ कहा जाता है उसका नाम प्रार्थना नहीं है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए स्वामीजी महाराज ने प्रार्थना शब्द के दो अर्थ बना दिये। एक कहा वैधानिक प्रार्थना और एक को कहा अवैधानिक प्रार्थना। यह महाराज की अपनी शब्दावली है। वैधानिक प्रार्थना उसको कहते हैं कि जो अवश्य पूरी होती है। जीवन की माँग पूरी होती है। सत्य की जिज्ञासा पूरी होती है। प्रेम की अभिलाषा पूरी होती है। तो इनकी जो आवश्यकता अनुभव करता है, उसका नाम है वैधानिक प्रार्थना और सांसारिक बातों के लिए जो प्रार्थना की जाती है, उसका नाम है अवैधानिक प्रार्थना। अवैधानिक प्रार्थना पूरी हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, और पूरी हो भी जाये तो फिर सब कुछ मिट सकता है। इसलिए मानव के जीवन में अवैधानिक प्रार्थना का स्थान नही हैं।

प्रश्नः- विधान के आधार पर विधायक की सत्ता और विधायक के नाते विधान की सत्ता मानना- इनमें से हमारे लिए कौन अधिक हितकर है ?

इसका तो सहज उत्तर है- जो तुम्हें पसन्द आए सो तुम्हें हितकर है। एक ईश्वर विश्वासी विधायक की सत्ता को स्वीकार करता है और वह विधान को मान लेता है। यह परमेश्वर की आज्ञा है। क्या आज्ञा है ? कि तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो किसी को हानि मत पहुँचाना। विधायक को मान लिया, विधान को मान लिया और एक विचारक है जो खोज के आधार पर चलना चाहता है। वह देखता है कि संसार में इतना जबरदस्त विधान चल रहा है तो विधान को देखकर के विधायक को मान लेता है। एक साइंटिस्ट

का उदाहरण मैं आप लोगों को सुनाया करती हूँ। चार- छः वर्ष पहले की बात है। बातचीत हो रही थी मेरी। एक साइन्स के लैक्चरर थे तो उन्होंने अपने मित्र की कथा सुनाई थी। वे ऐस्ट्रोनोमी में रिसर्च कर रहे थे। देखा उन्होंने, शून्य आकाश में ग्रह, नक्षत्र, तारे अपनी अपनी धुरी पर चलते ही जाते हैं। चलते ही जाते हैं। शून्य आकाश, उसमें इतने असंख्य यात्री और फिर भी कहीं पर एक्सीडेंट accident नहीं हो रहा है तो कौन सँभाल रहा है उनको, कौन चला रहा है ? किस विधान पर चल रहे हैं ? ये किसकी आज्ञा पर चल रहे है ? Traffic controller तो कोई दिखाई ही नहीं देता। उसने अपने Research के विषय को छोड़ दिया। एकान्त में जाकर बैठ गया, कहने लगा कि अब ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधि कौन नापता रहे, चलो उस Controller से मिल लो, सब समाचार मालूम हो जायेगा। यह अभी इसी आधुनिक युग की बात है और मेरा विश्वास है कि उस भाई को Controller मिल ही गये होंगे। जो अपना सब कुछ छोड़ कर बैठेगा, उससे परमात्मा को मिलने में क्या देर लगेगी। अब देखिए उस भाई ने क्या किया ? विधायक की सत्ता उसने नहीं स्वीकार की थी। विधान देखा, ऐसा कैसे हो रहा है? कौन सँभाल रहा है ? किसके संकेत पर इतने ग्रह नक्षत्र अबाध गति से असंख्य असंख्य वर्षों तक युगों युगों तक चलते रहेते हैं, चलते रहते हैं Fraction of second (क्षण भर) के लिए भी कभी उनकी गतिविधि में अन्तर नहीं आता। धीमापन या तेजी नहीं आती है। असंख्य असंख्य बरस बीत गये। अपनी अपनी धुरी पर यह ग्रह-नक्षत्र चल ही रहे हैं कभी कोई फर्क नहीं हुआ। अतः कोई Controller होगा जरूर, दिखाई नहीं देता भले ही। परन्तु इससे मिलना आवश्यक है- ऐसा सोचकर ग्रह-नक्षत्र की गतिविधि में एक निश्चित विधान देखकर, उस वैज्ञानिक ने विधायक को मान लिया और काम बन गया। तो विधायक को मान कर उनका विधान मान लीजिए, अथवा विधान को देखकर विधायक को मान लीजिए- ये दोनों बातें मानव-जीवन

के लिए हितकर हैं अहितकर इसमें से कोई नहीं है जिसको जो रुचे पसन्द कर ले। विधायक में सहज से विश्वास होता हो तो विधायक की सत्ता स्वीकार करके विधान मान लीजिये और विधायक को मानने की इच्छा न होती हो तो विधान को देखकर विधायक को स्वीकार कर लीजिए। इसमें भी आपका विकास हो जायेगा। कोई घाटा नहीं लगेगा। बड़ी सुन्दर बात है। मंगलकारी प्रभु का बड़ा ही मंगलमय विधान है। हर प्रकार के साधकों के लिए उन्होंने मार्ग बनाए हैं। चाहे जैसे भी हो अपने विचार का अनुसरण करो। सफलता मिलेगी अवश्य। (अब हम लोग शान्त हो जाएँ)

(64)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाईयो !

हम सब लोग मानव जीवन का विश्लेषण कर रहे है। इस दृष्टि से, कि इसको सफल बनाने के उपाय निकालें। विश्लेषण करने से ऐसा स्पष्ट हुआ कि इस व्यक्तित्व में भौतिक पहलू भी हैं और अलौकिक तत्त्व भी हैं भौतिक पहलुओं को लेकर हमारा जगत् से संबंध बनता है; अलौकिक तत्त्वों के आधार पर अविनाशी जीवन की माँग रहती है अपने में। यह हमारा एक चित्र है।

अब सत्संगी होने के नाते, साधक होने के नाते, सत्य की खोज करने वाले जिज्ञासु होने के नाते, देखना है, कि कैसे हम एक ऐसा सामंजस्य स्थापित करें, कि कुशलता पूर्वक संसार में रहना भी हो जाए ; संसार के बन्धन से मुक्त भी हम हो जाएँ और अलख, अगोचर, अदृश्य अज्ञात परमात्मा के प्रेम से भरपूर भी हो जाएँ। इसके लिए एक जीवन शैली हम लोगों को चाहिए। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर-इन दोनों के सहारे जगत् के साथ सम्पर्क हम बनाते हैं और दोनों तरह के व्यवहार मानव समाज में चलते हैं। अन्न-जल

इत्यादि वस्तुओं की आवश्कता स्थूल शरीर की भूख कहलाती है, और मेरा कोई समर्थक हो, मेरा कोई साथी हो, कोई मुझसे प्यार करे, कोई मेरा दिया हुआ प्यार स्वीकार करे, कोई मुझे वस्तुएँ दे, कोई मुझसे वस्तुएँ ले, कोई मेरे संकल्प की पूर्ति में सहायक बने, किसी की संल्कप पूर्ति में मैं सहायक बनूँ, कोई मेरे सुख-दुःख में शामिल होवे, किसी के सुख-दुःख में मैं शामिल होऊँ- यह सब मानसिक भूख कहलाती है। मनौवैज्ञानिक भाषा में एक को Physiological need कहते हैं और दूसरे को Psychological need कहते हैं मान बड़ाई प्रशंसा पाने की इच्छा सब 'साइकोलोजिकल नीड' कहलाती है इनकी पूर्ति के लिए संसार के साथ सम्पर्क बनता है।

अब सत्संगी होने के नाते जीवन के लक्ष्य के रूप में हम लोगों ने रखा-चिरशान्ति, दुःख निवृत्ति, भगवत्भक्ति। यह हमारा लक्ष्य हुआ। यह वास्तविकता है और इनके बिना किसी भी प्रकार से कभी भी हम लोगों को सन्तुष्टि नहीं होगी। जो अपने आप में सन्तुष्ट होना पसन्द करें ; जो पराश्रय और पराधीनता से मुक्त होना पसन्द करे, जो अनन्त परमात्मा का प्रेमी होकर प्रेम-रस में मस्त रहना प्रसन्द करे- उसके लिए आवश्यक है कि इसबात पर विचार करे, कि शरीर और संसार को लेकर वह क्या करे ? चिर शान्ति न शरीर दे सकता है, न संसार ही दे सकता है। जीवन मुक्ति न शरीर दे सकता हे, न संसार ही दे सकता है। क्योंकि यह इनके दायरे की बात नहीं है। और चिर-शान्ति, दुःख निवृत्ति, जीवन-मुक्ति के बिना जीवन की पूर्णता नहीं होती। तब क्या होना चाहिए? एक अपनी भूल विचार करने के लिए आप भाई-बहिनों के सामने रख रही हूँ आप देखिए- जब तक हम लोग अपने को शारीरिक और मानसिक भूख मिटाने की सीमा में सीमित रखते हैं, तब तक क्या होता है ? कि सेवा, त्याग, प्रेम, उदारता, करुणा-जितनी अच्छी बातें हैं, मानव

जीवन के जो ऊँचे मूल्य हैं, उन पर हमारा ध्यान नहीं जाता। उनकी उपेक्षा करके हम शारीरिक और मानसिक भूख को मिटाने में लगे रहते हैं। उलटा-सीधा काम कर देने से अधिक सम्पत्ति आ सकती है, तो जो नहीं करना चाहिए सो भी करेंगे। इसलिये कि अधिक सम्पत्ति आ जायेगी। अब कोई पूछे- क्या करोगे भाई अधिक सम्पत्ति लेकर ? अधिक सम्पत्ति लेकर हम अधिक सुख से रह सकेंगे, और बहुत दिनों तक हमारे बाल बच्चों को अधिक धन कमाने की तकलीफ नहीं उठानी पड़ेगी। ठीक है अब सोचिए, कि जिस सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए आपने हृदय के ऊँचे मूल्यों को घटा दिया, सत्य का सहारा छोड़ दिया, सामाजिक हित की परवाह नहीं की, उससे आन्तरिक मूल्य बढ़ गया है कि घट गया ? घट गया न।

अब देखो, कितनी बड़ी भूल हम लोगों से होती है। किसी से पूछो कि बहुत-सी वस्तुएँ लेकर क्या करोगे भाई ? इतनी सामग्री का क्या करोगे ? तो कहेगा कि उसके सहारे मैं आराम से रहूँ गा। अच्छा, अब बताओ कि वस्तुओं का महत्त्व हैं, या आराम का ; आपके जीवन में सुख की सामग्री का महत्त्व है, या हृदय की शान्ति का ? तो आप कहेंगे कि आराम का, शान्ति का महत्त्व है। तो भाई, देखो ! सत्य का सहारा खोने से शान्ति मिलती है, या सत्य के सहारे रहने से शान्ति मिलती है ? अब हम लोग क्या करते हैं ? भौतिक उपादानों को जुटाने में, सुख की सामग्री को जुटाने में, उसको बनाए रखने में अपनी जो दैवी सम्पदा है उसको हम घटाते चले जाते हैं और फिर कहते है कि क्या बताएँ, कहीं शान्ति नहीं हे, कहीं आराम नहीं है। यह बहुत जरूरी बात है। आप क्या साधना करेंगे ? साकार उपासक बनेंगे कि निराकार उपासक बनेंगे , कहाँ जायेंगे, कहाँ रहेगे ? सो सब बहुत महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। कर लीजियेगा जैसी आपको सुविधा मिले, जो जी में आए। लेकिन ध्यान देकर देखिए कि शारीरिक और मानसिक भूख की अपेक्षा शान्ति, मुक्ति

और भक्ति को प्रधानता नहीं दीजियेगा, तो काम नहीं बनेगा।

अब आदमी करता क्या है ? देखो, भीतर-भीतर बहुत तकलीफ पा रहे हैं। आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं है, लेकिन ज्यों-त्यों करके सही- गलत तरीके से इन्तजाम करके भी त्यौहार तो उसी ढंग (Standard) से मनाना चाहिए जिससे कि समाज में प्रतिष्ठा बनी रहे। यह मानसिक भूख है कि समाज में प्रतिष्ठा बनी रहे तो अच्छा लगेगा। तो उसकी कोई सीमा है ? नहीं है। सदा के लिए प्रतिष्ठा बनी रहेगी? नहीं बनी रहेगी। उसको छोड़कर के आपको हटना पड़ेगा कि नहीं ? आपको छोड़कर वह हट जायेगी कि नहीं ? जो बात बदलती हुई परिस्थितयों के आधार पर आपके सामने आई है, वह बात बदल जाती है कि नहीं बदलती ? अगर उस बदल जाने वाले के लिए, उस छूट जाने वाले के लिए आपने सत्य का पल्ला छोड़ दिया, धर्म का, कर्त्तव्य का पल्ला छोड़ दिया, परमात्मा का सहारा छोड़ दिया- तो लाभ हुआ या हानि हुई? स्पष्ट है कि हानि हो गई।

काफी समय तक एक ऐसी मण्डली में मुझे रहना पड़ा कि जिन लोगों के सामने ईश्वर की और धर्म की चर्चा ही नहीं थी और दुनियाँ के एक बुद्धिमान आदमी ने कह दिया कि Religion is the opium of society. उसको अपनी बुद्धिमानी का अभिमान था तो उसने धर्म को समाज के लिए अफीम के समान बता दिया कि लोगों को खिलाकर नशे में सुला दो तो वे किसी प्रकार की तकलीफ की शिकायत नहीं करेंगे। अब यह पागलपन है या नहीं ? जो सदा के लिए रहने वाला है,उसको तो आँखों के सामने से हटा दो, और जो दिन-रात बदलता हुआ हमारी आँखों के सामने से जलप्रवाह के समान एक तरफ से आ रहा है दूसरी तरफ निकलता जा रहा है, उसी को पकड़ने की बात कहकर आदमी बुद्धिमानी का परिचय देता है। उससे लाभ नहीं होता।

हम लोगों का तो उतना पता नहीं हे, चकाचौंध की दुनिया हम सब लोगों ने देखी नहीं है, सुनते ही रहते हैं दूर से। लेकिन जहाँ बहुत सम्पत्ति है, वहाँ के रहने वाले, जिन्होंने प्रचुर मात्रा में भौतिक सामग्रियों को इकट्ठा कर लिया है सुख के लिए, उन्हें भी आराम नहीं है। वे लोग भी बहुत परेशान हो रहे हैं और अपना देश छोड़-छोड़ कर भारतवर्ष की ओर भाग रहे हैं इस आशा में, कि भारतवर्ष जाकर कुछ शान्ति का मार्ग खोजें। जिन लोगों ने बहुत सारे कपड़े बनवा लिये और खूब पसन्दगी के ढंग-ढंग के ड्रैस पहन लिए, शोक पूरा कर लिया, उनके जीवन में भी इतनी नीरसता छा गई है कि वे बिल्कुल विपरीत ढंग से रहने लग गये हैं। मैले फटे कपड़े बदन पर पड़े हैं, बटन खुले हुए हैं, अस्तव्यस्त दिखाई देते हैं वे। उनको कुछ अच्छा ही नहीं लग रहा है। तो भौतिक सामग्री जो है, वह शरीरों की सेवा के लिए उपयोगी अवश्य है, लेकिन उस भौतिकता के आधार पर कोई मनुष्य जीवन को सरस बनाना पसन्द करे तो जो आज तक हो नही सका, वह कभी होगा भी नही।

अब अपनी अपनी दशा हम लोग देख ले। सत् चर्चा के आधार पर हम लोगों ने यह स्वीकार कर ही लिया कि अब तक का समय जो हमें मिला, उसका अधिकांश भाग और अपनी अधिकांश शक्ति संसार में सुख रहने का इन्तजाम करने में बिता दी हैं तो क्या हृदय की नीरसता मिट गई ? अभाव मिट गया ? नहीं मिटा। दस बरस पहले ऐसा लगता था कि हमें बहुत कुछ चाहिए और हमने उसकी पूर्ति के लिए बहुत कुछ किया भी। अब आप सोचकर बताइये कि हमारी इच्छायें पूरी हो गई या अभी शेष हैं ? पहले से कम हैं या ज्यादा हैं? सोचो तो देखो भाई कम हों या ज्यादा अगर एक भी इच्छा रह गई तो भौतिक सीमा के बन्धन में बाँधने के लिए वो पर्याप्त है। अपने लोगों के सामने मैं अगली बात जो रखने जा रही हूँ वह यह है कि सत्संग करना भी आवश्यक है। सन्त महापुरुषों के

वचनों को सुनना भी आवश्यक है। सद् ग्रन्थों का पाठ करना भी आवश्यक है। लेकिन उसमें से जो सुनने में आवे, अपनी समझ में आवे, उसको मानना भी आवश्यक है। तभी आराम मिलेगा।

बड़े-बड़े समझदार लोगों को मैंने देखा है जब वे व्यवहार के स्तर पर आते हैं, कहते हैं कि भाई, आदर्श तो आदर्श हैं, व्यवहार व्यवहार है। व्यवहार ऐसा ही होगा। आप सोचिए कि अगर व्यवहार वैसा ही होगा तो फिर जीवन भी वैसा ही रहेगा। ऊँचे कैसे उठेगा ? अगर आज अनेक प्रकार की चिन्ताओं से और भय से कोई भरा हुआ है तो इन चिन्ताओं से और भय से छुट्टी कैसे मिलेगी।

जो नहीं करना चाहिए उसे करना बन्द करो, तो जीवन में शान्ति आवे। आप अपने को देखिए। मानव जीवन में बड़ी विलक्षणता है। इसमें एक ओर अनेक प्रकार की इच्छाएँ हैं तो दूसरी ओर सत्य की जिज्ञासा और परम-प्रेम की अभिलाषा भी है। अविनाशी जीवन की माँग भी है। जन्म मरण के बन्धन से स्वाधीन होने की आवश्यकता भी है। पराश्रय और परिश्रम से सदा के लिए मुक्त होने की माँग भी है। अब आप ही विचार कर बताइये कि इच्छाओं की पूर्ति के लिए वास्तविक जीवन की माँग को छोड़ना चाहिए ? कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

महापुरुषों ने अपनी वास्तविक जीवन की माँग की पूर्ति में ही शरीर और समाज की सेवा को एक साधन बना लिया। ऐसा नहीं किया कि शारीरिक और मानसिक भूख मिटाने के लिए सत्य पर से दृष्टि हटा ले। धर्म पर से दृष्टि हटा दें। जो नहीं करना चाहिए सो करने लग जाएँ। ऐसा उन्होंने नहीं किया। संसार में जितने भी सच्चे साधक हुए, सन्त हुए, महापुरुष हुए, भक्त हुए भगवान के उन लोगों ने क्या किया। उन लोगों ने शारीरिक सेवा और समाज की सेवा को अपनी वास्तविक माँग की पूर्ति में एक सहयोगी साधन बनाया। हम लोगों के जीवन में अगर जल्दी-जल्दी उन्नति नहीं हो रही है,

शान्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो रही है, ईश्वर विश्वास के आधार पर निश्चिन्तता और निर्भयता हम लोगों को नहीं मिल रही है; तो इसका कारण क्या है ? कारण यही है, कि हमने वास्तविक जीवन की माँग को प्रधानता नहीं दी है, अभी तक सुख और सम्मान के पीछे पड़े हैं। आज से, इसी क्षण से, हम सभी भाई-बहिनों को इस बात पर दृष्टि रखनी पडेगी कि इच्छाओं की पूर्ति के सुख के लिए हम सत्य का सहारा नहीं छोडेंगे। अकरणीय कर्म नहीं करेंगे झूठ का सहारा नहीं लेगे। दूसरो को तकलीफ देकर अपने सुख का सम्पादन नहीं करेंगे। दूसरों को दुःख देकर अपने सुख का सम्पादन बहुत बड़ी हिंसा है। फिर भी सुख के प्रलोभन में पड़ा हुआ आदमी ऐसा करता है, तो सोचो, इसको शान्ति केसे मिले ?

सत्संगी लोगों के बीच अहिंसा की चर्चा चलती है। मक्खी, मच्छर मारने की बात भी चलती है। मारना चाहिए या नहीं ? ऐसा कभी कभी मैं सुनती हूँ लेकिन देखो भाई दस व्यक्तियों के साथ मिलकर आप एक परिवार में रहते हो और आपके मन की एक बात पूरी नहीं हुई तो क्रोधित होकर, क्षोभित होकर, कठोर वचन बोल कर, मुख बिगाड़ कर वायुमण्डल में क्षोभ, क्रोध और उदासी फैलाते हो, तो यह हिंसा नहीं है ? बड़ी हिंसा है। अपने संकल्प की पूर्ति के लिए दूसरों की खुशी की परवाह न करना अपने मन को खुश करने के लिए, जो नहीं करना चाहिए सो करना, सच्चाई को छोड़ देना, ईमानदारी को छोड़ देना असाधन है। व्यक्ति के व्यक्गित जीवन में अशान्ति भर गई हो, पारिवारिक जीवन में अविश्वास और प्रेम की जगह कलह भर गया हो, और सामाजिक जीवन में सहयोग की जगह पर संघर्ष भर गया हो तो सबके मूल में आप इस बात को जानिये कि मनुष्य होकर हम लोगों ने सत्य का, धर्म का, परमात्मा का महत्त्व नहीं माना और शारीरिक तथा मानसिक भूख को मिटाने में ऐसे लग गये, कि जीवन के ऊँचे मूल्यों का हमारी दृष्टि में कोई

स्थान ही नही रहा। फिर आदमी कहता है कि बड़ी अशान्ति है, बड़ा संघर्ष है। मानसिक रोगों की वृद्धि हो रही है। Tranquilizers की खपत बढ़ती चली जा रही है। क्या हो गया भाई ? हो गया यह कि आप मुख से तो कहते हैं कि मुझे शान्ति चाहिए और जिन्दगी बिताते हैं अशान्ति की वृद्धि के ढंग से हृदय में असन्तुष्टि की पीड़ा आप अनुभव करते हैं, अन्तुष्टि को मिटाना पसन्द करते हैं, लेकिन अपने आपमें सन्तुष्ट रहने के जो उपाय हैं, उनको मानने को तैयार नहीं हैं।

जो सामूहिक सत्संग होता -जैसे अभी हम लोग बैठे हैं, सत्य की चर्चा हो रही है- इसको पूरा कर लेने के बाद, सभी भाई-बहिनों को कुछ देर के लिए, अकेले-अकेले चुपचाप बैठकर फिर इन बातों पर मनन करना चाहिए। आप में बल आ जायेगा। किस बात के लिए बल आ जाएगा ? कि हम इच्छाओं की पूर्ति के लिए सत्य का सहारा, प्रेम का सहारा नहीं छोडेंगे। आप उसकी आवश्यकता महसूस करें और आप मान लें कि त्याग की बात और भगवद्-भक्ति की बात तो प्रार्थना मन्दिर में बैठकर करने की है। चतुराई चालाकी व्यवहार में करनी ही चाहिए। उसको आप उचित समझेगें तो कैसे उसको छोड़ेंगे ? और नहीं छोड़ेंगे तो उससे ऊपर कैसे उठेंगे ? इतनी छोटी-छोटी बातों में मैंने आदमी को अपना मूल्य घटाते हुए देखा है बड़ा दुःख होता है मुझे ! जैसे किसी को कोई वस्तु चाहिए, तो भाई ! यदि यह अर्थ सम्पन्न है तो कायदे से खरीद कर ले आए। धन नहीं है तो अपना मूल्य घटाते चले जाओ, किसी सम्पत्तिशाली के आगे हाथ फैलाओ, उससे कहो कि हमको यह चाहिए। उससे नहीं हो सका और कहीं दुर्बलता दिखाई देती है तो लड़ झगड के ले लो, उससे भी काम नहीं चल सका तो आँख छुपाकर , चुराकर ले लो। किसी भी प्रकार से उसको लेकर ही चैन लो। वस्तु लेकर तुमको लगता है कि मैं समर्थ हूँ, लेकिन उसके बदले में तुम्हारे

हृदय में शुष्कता आ गई। सत्य से दूर होने के कारण तुम नीरसता, कठोरता की पीड़ा अनुभव करते हो- तो घाटा लगा कि लाभ हुआ ? सोचो-बड़ा भारी घाटा लगा।

बहुत पुरानी बात है, १९३१ में नमक-कर आन्दोलन के समय गाँधीजी जब जेल में थे तो जेल में से वह अपने लोगों के लिए प्रवचन लिख-लिखकर भेजा करते थे। 'मंगल प्रभात' के नाम से प्रकाशित किया गया है उन्हें। उसमें लिखा है कि परमात्मा सत्य है, ऐसा कहने के बजाय सत्य ही परमात्मा है- यह कहना अधिक मौजू लगता है आगे उन्होंने कहा कि परमात्मा की आराधना के लिए हमारे जीवन में भीतर- बाहर सब तरफ सत्य की ही घालामेली है। यह वाक्य लिखा है उन्होने। वचन में, व्यवहार, में चिन्तन में दूसरों के प्रति अपना सम्बन्ध बनाने में, बनाये रखने में, एक एक सुई की नोंक के बराबर भी सत्य का सहारा जो छोड़ता है, वह परमात्मा से दूर हो जाता है। समझ में आया ?

अब देखो, धन-सम्पति के लिए या झूठी मान-बड़ाई प्रतिष्ठा के लिए अगर आपने सत्य का सहारा छोड़ दिया, तो इससे आपको सन्तुष्टि नहीं मिलेगी। परन्तु जिन महानुभावों ने परमात्मा के प्रेम को बनाए रखने के लिए जगत् का सहारा छोड़ा तो परमात्मा इतने समर्थ, इतने उदार और इतने प्रेमी स्वभाव के हैं कि उस व्यक्ति को अपने गले लगा लेते हैं और जहाँ-जहाँ उसने जो कुछ त्याग किया था, वह सारा उसका वैसे ही भरा-पूरा कर देते हैं। उससे भी अधिक कर देते हैं उनकी उदारता की सीमा ही नहीं होती है- इतनी उदारता से दे देते हैं। स्वामीजी महाराज ने बार-बार मुझको कहा था कि देवकीजी! माँगने की बात नहीं रहेगी, सोचना मत, अगर तुम माँगोगी तो तुमको घाटा लगेगा। तुम कुछ मत कहना। वे परम उदार अपनी उदारता से देना आरम्भ करेंगे तो इतना देंगे, इतना

देंगे, जितने की तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं, सोच भी नही सकतीं।

अब मैं आपको एक गृहस्थ का उदाहरण सुनाती हूँ जिन्होंने लौकिक लाभ की अपेक्षा ईश्वर के आश्रय को प्रधानता देना पसन्द किया-

हमारी जान- पहचान के एक सत्संगी भाई थे। उनका नौजवान लड़का बहुत बीमार, मरणासन्न। दवा खरीदने को आदमी भेजा तो दुकानदार ने (Black) ब्लैक का दाम माँगा। उनके घर का नियम है कि ब्लैक का सामान नहीं खरीदेंगे। दवा नहीं आई डॉक्टर ने कहा कि अगर यह टीका (Injection) आज रात तक नहीं लगेगा तो लड़का सबेरे तक नहीं बचेगा। बाप ने कहा कि भाई Black में दवा तो हमको मँगानी नहीं है। अब रात में Injection नही लग सकता। भगवान को रक्षा करनी होगी तो करेंगे और वे जो चाहेंगे सो होगा। उस समय लड़के के दादा भी जिन्दा थे, दादी भी थीं, माँ-बाप भी थे। बड़े भाई, छोटे भाई, बहन सभी थे। सारा परिवार बीमार बच्चे की चारपाई के चारों ओर बैठकर भगवान को पुकार रहे हैं। यह गृहस्थ के घर की चर्चा है। इन्होंने सोचा दवाई देने पर भी रक्षा करने वाला परमात्मा ही है, तो चलो बैठ करके उसे ही पुकारेंगे। अगर उसने रक्षा कर दी तो बिना दवाई के भी रक्षा हो जायेगी। अगर उसके विधान में लड़के को मरना ही है तो दवाई भी क्या करेंगी ? ऐसा सोचकर बैठ गये, भगवान को पुकारने लगे। भगवान ने लीला की। उन्होंने बारह बजे रात को दुकानदार के घर पर दो व्यक्तियों को भेज दिया। दुकानदार ने पूछा, भाई ! क्या बात है? तो उससे कहा गया कि तेरी दुकान में यह दवाई है ? उसने कहा- हाँ है ' ग्राहक आये थे खरीदने के लिए तो तुमने दिया क्यों नही? तो उसने कहा -देता क्यों नही ? बेचने के लिए दवाई रखता हूँ, जरूर देता, लेकिन मैं जो दाम माँग रहा था, उन्होनें नहीं दिया। उससे

कहा गया कि तुम्हें मालूम नहीं है, भगवान के भक्त का काम बिगड़ गया तो तेरा सर्वनाश हो जायेगा। चल तू दुकान खोल और दवाई दे और सही दाम पर दे। दुकानदार को दूसरों को नुकसान पहुँचाकर लाभ लेना पसन्द था, लेकिन अपना सर्वनाश तो उसे पसन्द नहीं था। वह डर गया। उसने जाकर दुकान खोलकर सही दाम पर दवा दे दी। दवा आ गई Injection (टीका) लग गया और लड़का अभी भी भला- चंगा जीता- जागता है। अच्छी तरह से अपने माँ-बाप को व परिवार को पाल रहा है।

यह उदाहरण रख रही हूँ मैं आप लोगों के सामने कि मनुष्य के जीवन में सत्य का मूल्य है, परमात्मा का मूल्य है, उदारता का मूल्य है, सेवा का मूल्य है। किस बात के लिए ? हमारी माँग की पूर्ति के लिए, लक्ष्य की पूर्ति के लिए मुझे चाहिए चिरशान्ति ! मुझे चाहिए जीवन मुक्ति !! मुझे चाहिए भगवत् भक्ति !!! तो इसके लिए जिन बातों का मूल्य है, उनको अगर सँभाल करके रखोगे नहीं, तो किसी जादू-मन्तर से शान्ति-मुक्ति-भक्ति मिलेगी ? नहीं मिलेगी।

अब एक दूसरा उदाहरण सुनिये। एक परिवार में दो भाई थे। साथ-साथ कारोबार करने वाले। एक का देहान्त हो गया। उसका छोटा लड़का रह गया। बच्चा छोटा ही था। चाचा ने उसको पालकर सयाना कर दिया। पढा-लिखा दिया, ब्याह कर दिया। सम्पत्ति काफी थी। लेकिन चाचा ने एक मकान और दस हजार रूपये देकर उसको अलग कर दिया कि तेरा काम हो गया, अब तू अपना कमा खा। उसने कहा कि चाचा जी ! सम्पत्ति तो काफी है, हिस्सा करके मुझे दीजिए। चाचा ने कहा- हिस्सा कैसा ? तेरे को पालने में, पढ़ाने में, ब्याह करने में काफी खर्च मैंने कर दिया, अब इससे ज्यादा नही दूँगा। उस लड़के ने सोचा ठीक बात है, बाप की अनुपस्थिति में चाचा ने सब काम किया है। मुझे इनके प्रेम को सुरक्षित रखना है। पैसे के लिए इनसे लडूँगा नहीं। धन-सम्पत्ति को

उसने कम महत्त्व दिया और प्रेम को अधिक महत्त्व दिया। वो ही आदमी स्वामीजी महाराज को बता रहा था खुद ही, कि महाराज जी ! बहुत समय नहीं लगा। थोड़ा ही पैसा लेके मैंने कारोबार किया और दो तीन वर्षों के भीतर ठीक उतनी ही सम्पत्ति मेरे पास हो गई, जितनी में मेरे हिस्से में आ सकती थी। होता है ऐसा। हम लोगों के लिए बहुत आवश्यक बात है कि ऐसी घड़ी आ जाए अपने सामने, तो ईश्वर विश्वास के लिए उत्तम घड़ी आई है- ऐसा मानकर आनन्द लेना चाहिए। सत्य का सहारा पकड़ो। उसी सत्य में से सारा संसार बना है। उसके लिए कोई बात असम्भव है क्या ? ऐसा केसे हो सकता है कि आपने सत्य के सम्बन्ध को सजीव बनाने के लिए मिथ्या सम्बन्धों का त्याग किया, तो जो सत्य है, जो नित्य है, जो समर्थ है, जो सर्वज्ञ है, वह आपको निराधार छोड़ देगा ?

तो दोनों चित्र मैं आप लोगों के सामने रख रही हूँ। एक चित्र ऐसा देखिए। जैसा हम लोगों ने अब तक बहुत बार किया होगा कि अब क्या करें, प्रतिष्ठा की बात है, मौके की बात है सब लोग इकट्ठे हुए हैं, ऐसा करना है, वैसे करना है। तो सही गलत जैसे भी ढंग से हो, इन्तजाम करके काम कर लो। एक तरीका हो गया। और एक दूसरा देखिये, एक चित्र ऐसा भी सामने रखो। जब भी संकट सामने आया, ईश्वर के विश्वास को सजीव रखना पसन्द किया। वस्तु विश्वास और व्यक्ति-विश्वास को महत्त्व नहीं दिया। तो दोनों में कौन सा श्रेष्ठ है। अवश्य ही ईश्वर विश्वास सबसे श्रेष्ठ है और अगर हमारी साधना सफल नहीं हो रही है, मन्त्र-जाप में रस नहीं आ रहा है, ध्यान लगाने बैठते हैं तो ध्यान नहीं लगता है; मूक सत्संग में बैठते हैं तो शान्ति सुरक्षित नहीं रहती है- अगर यह तकलीफ है, तो सोच लो कि क्यों है क्या गलती है कि सत्संग में बैठकर सत्य का महत्त्व सुना और व्यवहार के क्षेत्र पर उतर गये तो नाशवान को महत्त्वपूर्ण मान लिया। बस यही गलती है। अविनाशी

पर से दृष्टि हट गई यही भूल है। इसे मिटाना होगा। सफलता अवश्य मिलेगी। नई बात कुछ नहीं है। भाई! बात उतनी ही सी है।

उपसंहार के रूप में एक बार और दोहरा लें। अभी से, आज से, इसी समय से ; चलते-फिरते, उठते-बैठते बातचीत करते हुए सब समय इस बात का ध्यान रखो, कि भाई ! शारीरिक और मानसिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए दैवी सम्पदा को नहीं छोडेंगे। धर्म का पल्ला नहीं छोड़ेंगे। सत्य का सहारा, परमात्मा का सहारा नहीं छोड़ेंगे। अगर यह बात आपको जँच रही है, और आज से ही इसके अनुसरण का प्रयास करें, तो वे परम कृपालु सर्वज्ञ जो हमारे ही में नित्य निरन्तर विद्यमान हैं, उनकी विद्यमानता का इतना प्रत्यक्ष आभास आपको मिलता रहेगा, कि साहस बढ़ता जायेगा, शक्ति बढ़ती जायेगी और हम सब लोग अपने जीवन को पूर्ण बना सकेगें।

• दुःख-निवृत्ति, मानव-मात्र को चाहिए। दुःख-निवृत्ति जीवन की मौलिक माँग है। इसकी पूर्ति अनिवार्य है इसमें साधक मात्र सर्वथा स्वाधीन एवं समर्थ है।

अब सोचिये ! जिस दुःख का कारण कोई और होगा, उसको आप मिटा कैसे सकेंगे ? मिटा ही नहीं सकते। परन्तु सन्तजनों के जीवन का यह अनुभूत सत्य है, कि सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है। अतः अपने दुःख का कारण किसी और को मत मानो।

सुख की आसक्ति से दुःख की उत्पत्ति होती है। सुख की आसक्ति अपनी भूल है। इस भूल को मिटाने से दुःख मिट जाता है। सुखासक्ति का त्याग करने में मानव सर्वथा स्वाधीन एवं समर्थ है।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि अपने दुःख का कारण कोई और नहीं हो सकता।

श्री स्वामीजी महाराज के जीवन का एक प्रसंग है। एक बार वे

एक मित्र के साथ टहलने गये थे। चलते-चलते जल की आवश्यकता पड़ी। सड़क के किनारे एक बगीचा था। उसमें जल था। स्वामीजी के मित्र ने स्वामीजी महाराज को बगीचे में ले जाकर जल के पास बैठा दिया। स्वामीजी महाराज हाथ मुँह घोने लगे, कुल्ला करने लगे। इतनी देर में उनके मित्र दौड़े हुए आये और कहने लगे कि स्वामीजी महाराज ! बगीचे का माली बहुत गाली दे रहा है। स्वामी जी महाराज ने सुना और हँस करके कह दिया कि भैया वह गाली दे रहा है न ! तुम जाकर उससे कह दो कि हम गाली नहीं लेते। अपने में यदि देह का अभिमान नहीं है तो दूसरा कोई किसी भी प्रकार से अपमान का दुःख दे ही नहीं सकता। अपमान का दुःख अपने को क्यों होता है ? इसलिए होता कि देह का अभिमान लेकर समाज में हम रहते हैं तो सम्मान सुखद लगता है और अपमान दुःखद लगता है। तो न कोई सम्मान देकर हमें प्रभावित कर सकता है, न कोई अपमान के द्वारा हमें दुःखी कर सकता है। हम अपमान और सम्मान से आक्रान्त जो होते हैं तो अपनी भूल से ही होते हैं। अपनी भूल मिटा दें तो सर्व दुःखों से मुक्त हो जाएँ।

(65)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

आज सन्तवाणी में हम लोगों ने ईश्वर- विश्वास सम्बन्धी चर्चा को सुना। उसमें एक बड़ी अच्छी बात यह निकली कि भगवान में मन जब लग जाता है, तो लगने का और हटने का प्रश्न सदा के लिए खत्म हो जाता हे। उनमें मन किस प्रकार लग जाए ? ऐसा लग जाये कि लगने के बाद फिर अपने को पता भी न चले कि कब लगा और कब हटा। अर्थात् मेरा मन है, अब भगवान में लगा है- इस क्रिया का भास भी साधक को न हो। ईश्वर को मानने वाले हम

भाई-बहिनों के जीवन में अपना अनुभव होना चाहिए कि मैंने ईश्वर विश्वास की साधना को अपने लिए अपनाया तो उसका फल यह निकला कि भगवान में मन लगने का और हटने का प्रश्न सदा के लिए खत्म हो गया। ऐसा अनुभव हम लोगों का होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं है, किसी समय अपने को यों लगे कि कितनी देर से हम संसार की उधेड़बुन में लग गये, भगवान को भूल गये, - ऐसा लगे, तो फिर इस दशा को मिटाने का उपाय भी अपने लोगों को करना चाहिए।

मानव सेवा संघ की पद्धति को पसन्द करने वाले आप भाई-बहिनों ने अब तक चौबीस घण्टों में समय-समय पर पाँच-दस मिनट के लिए भी अकेले होकर, अपने सम्बन्ध में विचार करना तो आरम्भ कर ही दिया होगा क्योंकि यही एक साधन का स्वरूप अपने यहाँ दिखाई देता है। कुछ करने वाली बात तो है नहीं। करने वाली बात में महाराज जी ने कहा कि अगर शरीर मे बल है, स्फूर्ति है, करने का राग खत्म नहीं हुआ है, तो सेवा करो। साधन करो- ऐसा आपने कभी नहीं सुना होगा। महाराज जी का यह अनुभव है और सर्वमान्य सत्य भी है कि जो साधन किया जायेगा वह अखण्ड नहीं होगा। करना अखण्ड नहीं हो सकता। करने का आरम्भ होगा, तो करने का अन्त भी होगा। जो साधन हम करना आरम्भ करेंगे, वह जब खत्म हो जायेगा, उसका अन्त हो जायेगा तो उस समय क्या हमारा जीवन साधनहीन नहीं होगा ? अगर करने वाली साधना को ही महत्त्व देंगे, तो जिस समय करना खत्म हो गया, उस समय जीवन साधन से शून्य हो गया। इसलिए मानव सेवा संघ की पद्धति में करने वाली बात पर जोर नहीं डाला जाता। लेकिन करने वाली बातों को मना कर दिया जाता है कि मत करो- ऐसा भी नहीं है। ऐसा इसलिये नहीं है कि किसी किसी साधक में पहले के किए हुए के फलस्वरूप कुछ करने का राग इतना तीव्र होता है कि जब तक

वह उसको करके पूरा न कर ले, तब तक वह उसको किए बिना रह ही नहीं सकता। इसलिए स्वामीजी महाराज ने मना नहीं किया। लेकिन उस पर जोर भी नही डाला। अगर कोई बात ऐसी है आपके जीवन में कि उसको किये बिना आप रह ही नहीं सकते तो कर ही डालिए।

ऐसा भी होता है कि पहले के कुछ किये हुए कर्मो का Unconscious mind में उस दबी हुई बात का अचानक ही कभी प्रकाशन हो गया, किसी खास क्रियात्मक साधना के प्रति बड़ा जोरदार खिंचाव हो गया, तो ऐसी हालत में मानव सेवा संघ मना नहीं करता कि मत करो। उसमें साधक की हानि भी नहीं होती। क्यों नहीं होती? क्योंकि उस प्रकार की साधना को करने में उस पर भार भी नहीं पड़ता है, उसका जी भी नहीं ऊबता है और उसमें से हटता भी नहीं है, कयोंकि वो स्वभाव से उपजा है, आकर्षण है उसमें। वह सब करके, उसके फल को देखकर साधक उसके आगे बढ़ जाता है- इतनी बात हम सब भाई बहिनों को ध्यान में रखना चाहिए। जब दूसरे लोगों को आप परामर्श देते हैं, मानव सेवा संघ की पद्धति के सम्बन्ध में जब दूसरों से बातचीत होती है तो उसमें भी आपको आग्रह नहीं करना चाहिए किसी के लिए क्रियात्मक करो ही मत। अगर तुमसे बिना किए नहीं रहा जाता है, करने में तुम्हें प्रसन्नता है, भले करो। अपने पर दबाव डाल के साधन को बोझ मान के करने में थके जा रहे हो तो मानव सेवा संघ तुम्हें इस थकावट से मुक्त Free कर देगा और कहेगा कि कोई बात नहीं, अगर तुमसे नही होता है, इसे छोड़ दोगे तो तुम्हारा कुछ नुकसान नहीं होगा। यह दृष्टिकोण है जो कि सबको अपने सामने स्पष्ट रखना चाहिए।

अब अपने Point पर आ जाएँ हम लोग, कि यदि हमने ईश्वर में विश्वास किया है तो हमकों पूरी तरह से, सब प्रकार से उनके ही

होकर रहना आ जाए और कभी भी उनकी विस्मृति न हो। मन सदा के लिए उनमें लग जाए। उसका लगना और हटना अपने को पता न चले। ऐसा अब तक नहीं हुआ है तो जो दो चार बातें इसके पीछे Background में स्वामीजी महाराज बता रहे हैं उन पर भी विचार कर लीजिए। उसमें एक खास बात विचारणीय है कि किस की विस्मृति अपने को नहीं होती है ? कौन हमारे मन में, इन्द्रियों में अहं में निरन्तर बसा रहता है? किसका चिन्तन सब समय चलता रहता है ? ऐसा अगर अपने सामने प्रश्न रखें तो सन्तवाणी के आधार पर यह उत्तर मिलेगा कि भाई, जिसको तुम अपना मानते हो, अपना मानकर जिसको स्वीकार करते हो, उस पर से तुम्हारा ध्यान नहीं हटता। अपना तो हमने बहुत को माना। यह अपना मानना सही नहीं था। विवेक-विरोधी सम्बन्ध था। जो अपना है नहीं, अपना हो नहीं सकता, और अपना होकर रह नहीं सकता, उसको अपना मानते रहना, यह विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। इससे काम नहीं बनेगा। लेकिन सन्तवाणी में सुना है, वेद के वाक्यों में पढ़ा है, कि अपना मानने के योग्य केवल परमात्मा है। वही सदा-सदा के लिए अपना होकर रह सकता है। इसके अतिरिक्त और किसी के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है।

जो अपना है वह अपने को प्रिय लगेगा, जो अपने में है उससे मिलने के लिए हमें कुछ करना नहीं पड़ेगा और जो अभी मौजूद है उससे मिलने के लिए भविष्य की आशा नहीं करनी पड़ेगी। तो अपना है, अपने में है, अभी है- ये तीन बातें परमात्मा के सम्बन्ध में सर्व मान्य हैं। जितने लोग इस संसार में ईश्वरवादी हैं वे सभी इस बात को मानते हैं हिन्दू, मुसलमान, ईसाई- सभी ईश्वरवादी है, परमात्मा को मानने वाले हैं, और परमात्मा के सम्बन्ध में ये तीन बातें सबके यहाँ है। सभी ईश्वरवादी इस बात को भी मानते हैं कि परमात्मा सर्वत्र है और सदैव है। इस बात को मानने का एक बड़ा

अच्छा प्रभाव हमारे जीवन पर यह होना चाहिए कि हमारा ईश्वर विश्वास सजीव हो जाये।

गाँधीजी को रामनाम में बड़ा विश्वास था। राम को वे सर्वव्यापक ईश्वर के रूप में लेते थे और दशरथनन्दन हो करके उन्होंने बहुत लीलाएँ कीं, तो इससे भी गाँधी जी को कोई एतराज नहीं था। वे कहते थे, जो सब कुछ कर सकता है उसके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसे उन्होंने राम-नाम को माना और अपने जीवन में बड़ी प्रधानता दी। वे सच्चे साधक थे। उनका कहना था कि राम का नाम याद आए, उसको तुम मुखसे बोलो चाहे मत बोलो, राम का नाम याद आवे, तो हृदय में प्रेम की लहरियाँ न उठें, हिलकोरे न लगने लगे तो प्रार्थना निर्जीव है। प्रार्थना के लिए समय तो निश्चित होता ही था गाँधी जी का; एक तो भावात्मक प्रार्थना उनके भीतर की होती थी और एक क्रियात्मक प्रार्थना बाहर से भी होती थी। इसके अलावा और जो कुछ काम उन्होंने किया संसार के कल्याण के लिए वो सब उनकी ईश्वर की प्रार्थना ही थी, पूजा ही थी। तो यह अनुभव की बात है, प्रियता की बात है जो अनुभव करता है, वो ही इस तरह के वाक्यों को लिख सकता है, बोल सकता है। तो लिखा उन्होंने कि ऐसी लहरियाँ न उठें, प्रेम के हिलकोरे न उठने लगे तो वो प्रार्थना निर्जीव है। उसमें कोई जान ही नहीं है।

ऐसा कैसे होता है ? अब अपने को सामने रखकर सोचिए, कि हम लोगों ने कुछ सांसारिक व्यक्तियों से, शरीरधारियों से सम्बन्ध माना और अभी भी कुछ कुछ माना हुआ है। शरीर के कारण शरीरधारियों से सम्बन्ध होता ही है। जन्म होता है शरीर का, तो उस जन्म से ही माता-पिता सम्बन्ध बन जाते हैं। ऐसे हम लोगों ने नाशवान शरीरों के सम्बन्ध से कुछ शरीरधारियों को अपना सम्बन्धी करके माना। अब शरीर से माने हुए सम्बन्ध आपसे दूर हैं, देश-काल की दूरी है उनसे, और किसी तरह से उनकी याद आई, तो उससे

आप प्रभावित हो उठते हैं। अगर उनकी प्रसन्नता याद आ गई तो प्रसन्न हो जाते हैं अगर उनकी पीड़ा सुनने को मिल जाए तो दुखित हो जाते हैं।

माने हुए सम्बन्ध का प्रभाव हम लोगों को प्रभावित करता ही है। कुछ संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ Emotional reactions अपने भीतर पैदा हो जाती हैं, आप उनको प्रकट करें अथवा न करें, उसके अनुसार कुछ एक्शन ले अथवा ने लें, अथवा उसको विवेक के प्रकाश में अन्दर ही दबा के रख दें। लेकिन रिएक्शन होता हे, इसमें कोई सन्देह नहीं, और इस बात का अनुभव यहाँ बैठे सब भाई बहनों को है। तो यह किसकी हालत हो गई ? यह उसकी हालत हो गई जिसने शरीर के नाते से शरीरधारी से सम्बन्ध माना। अब ज्ञान के प्रकाश में देखो, तो यह दिखाई देता है कि शरीर के नाते से शरीरधारियों से माना हुआ सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध नहीं है, वह सत्य नहीं है, वह सदा के लिए निभेगा नहीं और उसके कारण जो संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ अपने में पैदा होती हैं, वे जीवन को पूर्ण बनाने वाली नहीं होती है। आसक्ति बढ़ जाती है, पराधीनता बढ़ जाती है। बड़ी-बड़ी पराधीनता की पीड़ा को मैंने अनुभव किया है, आप लोगों ने भी किया होगा। विवेक-विरोधी सम्बन्धों के प्रभाव से अपने भीतर पराधीनता की पीड़ा जो सताती है उससे आदमी सचेत हो जाता है और सत्संग के आधार पर नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करके सदा सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है।

जो अपना है, अपने में है, अभी है उसकी स्वीकृति के बाद साधक को पराधीन नहीं रहना पड़ता। मुझे तो ऐसा दिखता है कि ईश्वरीय प्रेम का तत्त्व जब भक्त के जीवन में अभिव्यक्त होने लगता है तो वह इतना व्यापक होता है और मनुष्य के सीमित अहंभाव को अनन्त का अनन्त प्रेम इस प्रकार से भीतर बाहर चारों ओर से अभिभूत कर देता है कि उस प्रेम-रस से छके हुए व्यक्ति को किसी

वस्तु-व्यक्ति की याद ही नही आती। वह काहे को पराधीन होगा?

कथा आपने सुनी होगी सुतीक्षणजी की, बहुत दिनों से सब ऋषिमुनि लोग प्रतीक्षा कर रहे थे कि भगवान अवतार लिए हैं हम लोगों का दुःख दूर करने के लिए, और राक्षसों का संहार करने के लिए वन में आएँगे। बड़ी उत्कण्ठा है सब ऋषि-मुनियों को, सब भक्तों को, भगवान के भजन करने वालों को, कि कब पहुँचे तो दर्शन करें। सुतीक्षणजी ने सुना कि इधर से होकर भगवान वन में आ रहे हैं, तो वे उठे बड़े उत्साह से मिलने के लिए। अब देखिए ! जैसे ही उनके दिल में यह उत्कण्ठा बढ़ी कि अहा ! जिसके दर्शनों के लिए मैं इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रहा था, इन नयनों से जाकर उन भगवान को मैं देखूँगा, उनके उन चरणों के दर्शन करूँगा, उनके उस मुख-कमल का दर्शन करूँगा, उनसे साक्षात् मिलूँगा, तो हम जैसों पर वे दया करेंगे क्या ? हमको प्यार से देखेंगे क्या ? हमको अपनाएँगे क्या? ऐसी क्लपनाएँ इतना उत्साह , कि भीतर प्रेम का प्रवाह बढ़ गया, और अपने आपको वे भूल गये। गोस्वामीजी ने बड़ा अच्छा वर्णन किया है कि कभी नाचें, कभी गावें, कभी ताली बजावें, कभी रोवें, कभी दौड़कर वनपथ पर जावें, फिर हर्ष के उन्माद में रास्ता भूल जावें तो आगे जाने के बदले पीछे लौट आवें; और जब प्रेम का अतिरेक बढ़ गया तो सब गति बन्द हो गई और वे बीच रास्ते में चुपचाप बैठ गए। अब सब क्रियाएँ खत्म हो गईं क्रियाएँ कब तक हैं ? जब तक अहम् है। क्रियाएँ कब तक हैं ? जब तक भीतर में कुछ पाना शेष है और प्रेम के अतिरेक में जब भीतर से भरपूर हो गये, सब क्रियाएँ खत्म हो गईं, तो बैठ गये बीच रास्तें मे अचल होकर। और जो अपना है, अपने में है, अभी है, उस प्रेम के रस से वो भीतर ही भीतर प्रकट हो गया। अपने में उस प्रेमास्पद को पाकर वह सुध-बुध खो गया। अब कहाँ रही पराधीनता? कहाँ रही क्रिया ? कहाँ रही मिलन के लिए एक अलग से आवश्यकता?

कुछ रहा नहीं। सब पूरा हो गया। वृक्ष की आड़ में से भगवान भक्त की देख रहे हैं भक्ति, और खूब आनन्दित हो रहे हैं। प्रेम से भरा हुआ भक्त उन्हें बहुत प्रिय लगता है। उसी रास्ते से आते-आते सुतीक्ष्ण को प्रेम की समाधि में बैठे देखकर भगवान को बहुत प्रिय लगता है। उसके भीतर भी वही, बाहर भी वही है और उन्हीं के प्रेम में वह खोया हुआ है, बहुत आनन्द ले रहा है। लेकिन भाई, अब दुनियाँ का काम भी उनको करना है, आगे भी जाना है, तो आ गए पेड़ की आड़ में से निकल कर सुतीक्ष्ण के पास और उसे पुकार रहे हैं। पर वह अपना नाम भी नहीं सुन रहा हे, ध्वनि भी नहीं सुन रहा है। देहधर्म उसका खत्म हो गया, अलौकिक प्रेमतत्त्व से अभिन्न हो गया। उसको पता ही नहीं चला और भीतर ही में, अपने में जो परमात्मा विद्यमान है उसके मिलन के आनन्द में वह डूबा हुआ है, तो बाहर की ध्वनि वह सुनेगा भी कैसे ? न उसको कुछ सुनाई दे रहा है, न दिखाई दे रहा है, न अपने-पन का कोई भास है। तब भगवान ने विनोद किया। उसके हृदय में जो अन्तर स्थित रूप से प्रकट हुए थे, वो भीतर का रूप उन्होंने समेट लिया। तब वह एकदम व्याकुल होकर उठ गया और देखा कि सामने खड़े हैं। मिलन हो गया, बहुत आनन्द आ गया।

यह भक्त के जीवन का उदाहरण है। केवल इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि प्रेमीजन जो होते हैं उनको पराधीनता का दुःख नहीं सहन करना पड़ता, अभाव का दुःख नहीं सहन करना पड़ता। उनको किसी प्रकार की कमी नहीं होती। क्यों? क्योंकि वह प्रेम ही ऐसा विलक्षण तत्त्व है जो कि जीवन को सब प्रकार से भरपूर कर देता है। इसलिए सभी अनुभवीजनों ने हम लोगों को सलाह दी कि यदि प्रेम भाव के आधार पर जीवन को पूर्ण करना ही चाहते हो तो परमात्मा को अपना मानने का साहस करो। बहुत बड़ी बात है। हम ईश्वर को इतनी सजीवता से अपना मानें कि उनके अपने-पन

के कारण से हमारे भीतर उनके प्रति भक्ति आ जानी चाहिए। वे सर्वत्र हैं, इसलिए मुझमें भी है। तो अपने में जब हैं तो उनसे मिलने के लिए बाहर का कोई प्रयास जरूरी नहीं है। और अभी हैं, अभी तत्काल, इसी क्षण में सभी के भीतर विद्यमान है। अतः अपने हैं, अपने में हैं, और अभी हैं - ये तीन बातें है ईश्वर विश्वासियों को निश्चिन्त और निर्भय करने के लिए। चुन-चुन कर सब जगह से जीवन का सारांश निकाल कर सत्य स्वामीजी महाराज ने हम लोगों के आगे रख दिया।

अपने को शुद्ध करने के लिए, अपने राग की निवृत्ति के लिए, जिसको जब समय मिले, किसी न किसी सेवा-प्रवृत्ति में भाग लेना चाहिए, और उससे से भी जो समय मिले, उसमें अकेले रहना, शान्त रहना और अपना आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। अपनी जो भी हमारी साधना है, उससे हमारा जीवन जीवन्त हुआ कि नहीं, उसके साथ मिलकर एकाकार हुए कि नहीं- इस पर विचार करिए। अब जैसे गाँधी जी ने लिखा है कि प्रभु का नाम, राम का नाम हृदय में आते ही अगर हलचल नहीं मचती है प्रेम की लहरियाँ, लहरियों का हिलकोरा नहीं लगता है, तो भजन-प्रार्थना निर्जीव है। यह दूसरों को दिखाने की बात नहीं है, न दूसरों से पूछने की बात है। यह चीज जो है केवल अपने सिर का सौदा है। किसी अन्य बात से इसका कोई मतलब नहीं है। मतलब तो केवल इतने से है, कि मैंने अपने को साधक स्वीकार किया। मैंने सन्त की सलाह से परमात्मा के साथ अपने-पन का सम्बन्ध जोड़ा तो मेरा सम्बन्ध सजीव हुआ कि नहीं ? स्वयं देखने की बात है। अगर होगा, तब तो आपको पता चलेगा ही तब तो आप उस आनन्द में ऐसे मस्त हो जाएँगें कि कोई पुकारेगा भी तो उत्तर देना आपको अच्छा नहीं लगेगा, कोई मिलने जुलने आवे तो प्रभु के नाते अपने पर जोर डालकर वृत्ति को बहिर्मुख करके आदर-सत्कार प्रेमपूर्वक मिलेंगे-ऐसा होगा तब तो

जीवन कुछ का कुछ होगा। लेकिन अगर उससे जीवन सूना है तो भाई, उस पर तो विचार करना पडेगा। जिस ईश्वर-विश्वास को जीवन का आधार बनाकर इसको पूर्ण बनाने चले हैं, और शरीर के नाश होने से पहले अपने आप को उस अविनाशी से अभिन्न करने चले हैं हम लोग, यदि उस विश्वास में सजीवता नहीं आती है तो क्या दुःख की बात नहीं है ? अगर भीतर में ज्योति नही जगी, अहं में चिंगारी नहीं लगी तो सब फीका है। सब व्यर्थ है।

यह सुनकर आप हार मान जाएँ, इसलिए मैं ऐसा नहीं कह रही हूँ आपको। बल्कि हम सब लोग मिलकर अधिक सचेत हो जाएँ, अपनी ओर अधिक देखना आरम्भ करे। परचर्चा, पर-दोष दर्शन से हमारा जीवन बच जाए, हमारा समय उसमें खराब न हो। अधिक से अधिक हमारी दृष्टि इस बात पर जाए कि किस प्रकार स्वामीजी महाराज ने अपने देहातीत जीवन के आनन्द से उतर कर प्रवृत्तियाँ सजाकर, सेवा के कई विभाग बनाकर और अनेक प्रकार के कष्ट पाकर संस्था बनाई। उसका हमें पूरा लाभ उठाना है। इसलिए सावधानी से हमें जीवन लेना है। एक एक दिन मुझ पर प्रगतिशील प्रभाव डाले- इस चेष्टा में रहना है। एक-एक दिन। आज का दिन गया तो हम कितना अपने साध्य के निकट हुए ? हम कितनी अपनी भूलों से अपने को बचा सके- यह देखना मानव सेवा संघ की साधना हैं इसमें बहुत बल मिलेगा, चेतना मिलेगी। सन्त की सद्भावना, प्रभु की कृपालुता हमारे साथ है। अगर वास्तविक जीवन की आवश्यकता अनुभव करोगे तो वह आवश्यकता ही तुम्हारी सफलता में साधन बन जाएगी- यह विधान भी काम कर रहा है। इसलिए डरना नहीं चाहिए। निराश नहीं होना चाहिए। एक भी दिन ऐसा नहीं जाने देना चाहिए कि बैठकर कुछ देर के लिए हम अपने को देखें नहीं अथवा देखने पर भूल दिखाई दे तो अधीर होकर उस सर्वसमर्थ की शरणागति, कृपा की भिक्षा न माँगे। ऐसा एक भी दिन नहीं जाना चाहिए।

जो अपना है, अपने में है, और अभी है उससे अभिन्न होने की माँग अपने में जाग्रत होनी चाहिए, क्योंकि अभिन्न होने की माँग की अत्यन्त तीव्रता ही माँग की पूर्ति में हेतु है-यह स्वामीजी महाराज के निज का अनुभव था। उन्होंने बताया कि एक बार उनका स्वास्थ्य कुछ बिगड़ा हुआ था। गर्मी के दिन थे और एक गृहस्थ के घर में, तिमंजिले मकान के ऊपर शैड के नीचे दिन में आराम कर लिया करते थे। एक बार कुछ ज्वर आ गया था, उल्टी भी हुई थी, प्यास लगी थी जोर से। पास में ठंडा जल था, लेकिन पीने की इच्छा नहीं होती थी। ऐसी लगन लगी थी कि जी में आता कि शरण्य से मिलें पहले और जल पियें पीछे। पूछने पर बताते कि दिल में यह लगता कि मैं पानी पीने लग जाऊँ तो शरण्य से मिलना नहीं हो पाएगा। इसको उन्होंने सिद्धान्त के रूप में हम साधकों के सामने रखा और यह कहा कि परम-व्याकुलता ही परम प्रेमास्पद से अभिन्न कराने में अचूक साधना है। जब और कुछ भी अच्छा नहीं लगता है -साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मिलन की व्याकुलता में बदल जाता है तो तत्काल उसी क्षण में प्रेमी और प्रेमास्पद का मिलन होता है।

(66)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाईयो !

संत-वाणी में हमारे जीवन के लिए उपयोगी तीन वाक्य हमको मिले। पहली बात है कि हम सभी को अपना मानें। यह जीवन का सत्य है जो भौतिक दर्शन से सिद्ध होता है। दूसरी बात है कि हम किसी को भी अपना न मानें यह अध्यात्म दर्शन का सत्य है। और हम प्रभु को अपना मानें, केवल प्रभु को अपना मानें, यह आस्तिक दर्शन का सत्य है।

किसी न किसी दार्शनिक सत्य के आधार पर हमारा सम्पूर्ण जीवन नियन्त्रित होना चाहिए। शुद्ध भौतिकवाद के दृष्टिकोण से आप देखें तो सम्पूर्ण जगत् एक इकाई है। इसमें भी हम अपने-पराए का भेद नहीं कर सकते। स्थूल पहलू भी हमारे व्यक्त्वि में है, कुछ भौतिक तत्त्व भी हमारे साथ हैं। जिन तत्त्वों से एक-एक इकाई, एक-एक यूनिट शरीरों का तैयार होता है उन्हीं तत्त्वों से ब्रह्माण्ड बना हुआ है। इस दृष्टि से इकाई और समष्टि में एक बहुत ही घनिष्ठ एकता है। स्थूल दृष्टि से देखकर जब हम जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो सम्पूर्ण जगत् को एक जीवन मानकर, सब प्राणियों को अपना मानना चाहिए। कैसे ? कि एक ही धरती पर सबको आश्रय मिलता है, एक ही प्राण-वायु सबको साँस लेने देती है, एक ही आकाश के नीचे सबको अवकाश मिलता है एक ही सूर्य से सबको प्रकाश मिलता है। प्रकृति ने भौतिक जगत् में अपने प्राणियों में कोई भेद नहीं रखा। अपने व्यक्तित्व के एक पहलू के हिसाब से जिस अंश में भौतिक दर्शन को स्वीकार करने वाले हम हैं, उसी ढंग से सोचें तो भी हमें प्राणियों में भेद नहीं करना चाहिए। तो क्या करना चाहिए ?

भौतिक जगत् की एकता को स्वीकार करना चाहिए। इस संबंध में एक साहित्यकार की रचना मुझे याद आ गई उसने लिखा था कि राज्य सिंहासन पर बैठा हुआ एक राजा प्रजा का रक्षण कर रहा है, शासन का कार्य चला रहा है, और एक भिखारी भिक्षा का पात्र लेकर दरवाजे-दरवाजे घूमता हुआ भिक्षा माँग रहा है। एक पक्षी वृक्ष पर बैठकर अपनी चहक से प्रकृति को गुंजारित कर रहा है। एक शिकारी शिकार के लिए सामान लेकर घूम रहा है, इस फिराक में कि कोई शिकार मिले और वह अपनी कला का प्रयोग करे। एक साधु अपनी आराधना में लगा हुआ है। एक व्यसनी अपने व्यसन से प्रेरित होकर वासना की पूर्ति के लिए दौड़धूप में लगा

हुआ है। रात हुई और पक्षी सो गया, वृक्ष पर बहेलिया सो गया वृक्ष के नीचे, राजा सोया है महल में और भिखारी सोया है झोंपड़ी में। सो गए जब सब, तो सबके भीतर एक ही जीवन स्पंदित हो रहा है। सबके भीतर, हृदय में धड़कन हो रही है, सबकी साँस चल रही है और उस साँस की गति में, उस हृदय के स्पन्दन में कोई भेद नहीं मालूम होता। सब एक समान है। और मुझे लग रहा है जैसे कोई एक ही महाप्राण एक ही निद्रा में आराम से साँस ले रहा हो। मुझे आश्चर्य है और बड़ा भारी दुःख भी है इस बात का, कि इस समय तो सबके सब एक समान हैं, लेकिन भाई ! आँख खुलने के बाद संसार में जब काम करने को चलते हैं तो क्यों एक दूसरे के विपरीत हो जाते हैं ? जगत् की जो शक्ति है उसकी एकता का कितना सुन्दर दर्शन है?

अब प्रश्न यह है कि एकता के होते हुए भी जब हम एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं तो भेद क्यों मान लेते हैं ? एक दूसरे के घातक क्यों हो जाते हैं ? इस सब का फल क्या होता है ? भेद मानने का फल यह होता है कि हमारे भीतर विकार पैदा हो जाते हैं राग-द्वेष बन जाता है और बाहर उसके परिणाम से संघर्ष हो जाता है। देश-देश में, जाति-जाति में, व्यक्ति-व्यक्ति में संघर्ष हो जाता है। आज समाज में अनेक प्रकार के संघर्ष चल रहे हैं मेरी दृष्टि जब इस मनोवैज्ञानिक दशा पर जाती है तो मुझे ऐसा लगता है कि एक ही व्यक्ति के भीतर भी संघर्ष चलता रहता है। विचार कहता है कि किसी को नुकसान मत पहुँचाओ, विवेक-विरोधी काम मत करो, मिथ्या आचरण मत करो। रुचि कहती है कि ऐसा करो। अतः व्यक्ति के भीतर भी संघर्ष चलता रहता है विचार कहता है कि किसी को नुकसान मत पहुँचाओ, विवेक-विरोधी काम मत करो, मिथ्या आचरण मत करो। रुचि कहती है कि ऐसा करो। अतः व्यक्ति के भीतर भी संघर्ष चलता रहता है। जब सत्संग का प्रकाश

जोर मारता है, तो हम लोग कहते हैं कि अब से कभी नहीं करेंगे। उसके बाद जब सुख का प्रलोभन, दुःख का भय, मिथ्या अभिमान, झूठा सम्मान सताता है तो कहते हैं कि कोई बात नहीं एक अकेले मैं ही थोड़े हूँ। सारी दुनियाँ ऐसे कर रही है, तुम भी कर डालो।

आज हमारा आपका अपने ही द्वारा किया हुआ निर्णय हमारे पर फलित नहीं हो रहा है। सुना हुआ सत्संग, सुनी हुई चर्चा हमारे काम नहीं आ रही है। सोचो तो मनुष्य के भीतर कितनी विषमता आ गई? उसी भौतिक जगत् में एक ही सूर्य से प्रकाश लेने वाले, ताप लेने वाले, एक ही प्राणवायु में साँस लेने वाले परस्पर एक दूसरे के घातक बन गए हैं। राग-द्वेष की अग्नि जल रही है, हृदय में शुष्कता और कठोरता भर रही है और माँगते हैं प्रभु- प्रेम ! अनमोल तत्त्व चाहिए अपने को जिसका कि संसार में मूल्य ही नही चुकाया जा सकता- ऐसा अलौकिक भगवत् अनुराग अपने को चाहिए, लेकिन करनी तो अपनी बहुत छोटी है। एक ही धरती पर रहने वाले हम सब भाई-बहन एक दूसरे के प्रति अपनेपन का भाव नहीं रख सकते तो हमें धरती पर पाँव रखने का अधिकार कैसे है ? अगर तुमने एक को अपना और दूसरे को पराया करके माना, एक को सुख देने के लिए दूसरे को दुःख देना पसन्द किया तो उसी के परिणाम स्वरूप राग-द्वेष में फँस गए ! उसी ज्वाला से हृदय का रस सूख गया और अब साधु-सन्तों के पास फिर रहे हो कि महाराज, हमें कोई सरल उपाय बता दीजिए कि हम गृहस्थियों को भी परमात्मा मिल जाए।

किसी भी स्टैंड पर व्यक्ति को खड़ा तो होना चाहिए। भौतिक तत्त्वों को लेकर हम जगत् में विचरण कर रहे हैं तो हमारे जीवन का एक अनिवार्य पहलू है जिसका निर्वाह हम लोगों को भौतिक सत्य के दर्शन पर ही करना चाहिए। जब अपने में अमरत्व की माँग है और अपना आध्यात्मिक विकास चाहते हैं तो जीवन के दार्शनिक सत्य को सामने रखना ही चाहिए। अगर परम प्रेम की प्यास है, प्रेम

स्वरूप परमात्मा के रस से अपने को सींचना चाहते हैं तो आस्तिक दर्शन के सत्य को लेकर चलना चाहिए। मैंने तो मनुष्य के व्यक्तित्व को सम्पूर्णता में देखा। यह कहना गलत बात है कि कोई केवल भौतिकवादी Materialist है कोई अध्यात्मवादी Spiritualist और कोई केवल ईश्वर-विश्वासी God fearijg है ऐसा नहीं है। भौतिकता निकाल दो तो व्यक्तित्व बनेगा आपका ? आध्यात्मिकता को निकाल दो, अपने में से अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व को निकाल दो तो अस्तित्व रहेगा आपका? श्रद्धा भक्ति प्रेम का हिस्सा निकाल दो तो मनुष्य रहेंगे आप ? नहीं रहेंगे। तो यह बड़ा भारी भ्रम है कि किसी को भौतिकवादी ग्रुप में रखते हैं, किसी को अध्यात्मवादी सीमा में बाँधते हैं, तो किसी को ईश्वरवादी सीमा में बाँधते हैं, यह बिल्कुल भ्रमात्मक बात है।

व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व तीनों ही प्रकार के सत्य पर आधारित है और जब हम संसार के साथ व्यवहार करने चलते हैं तो हमको पूरा पूरा भौतिकवादी होना चाहिए। किस दृष्टि से ? कि सारी सृष्टि एक है। अब आप सोच कर देखिए कि सभी को अपना मानना भौतिक दृष्टिकोण से सबके लिए कितना कल्याणकारी है। आप डरिएगा नहीं। माताएँ डर जायें कि सबको अपना मानेंगे तो हम तो सब के लिए रोटी नहीं बना सकतीं और भाई लोग डर जाएं कि सब को अपना मानेंगे तो हम सबके लिए कमाई नहीं कर सकते। सो नहीं। प्रकृति की शक्ति कम नहीं है। आपके भरोसे उसने प्राणियों को पैदा नहीं किया है कि तुम्हीं सबको खिलाओगे, तुम्हीं सबके लिए रसोई बनाओगी तो हमारी सृष्टि चलेगी। प्रकृति की शक्ति कमजोर नहीं है यह सलाह, इस सत्य का आधार आपको इसलिए दिया जा रहा है कि जगत् की ओर आपकी दृष्टि जाए और विश्व एकता को सामने रखकर व्यवहार नहीं करेंगे तो संसार में संघर्ष पैदा करेंगे, अपना पतन करेंगे। यह अभीष्ट है किसी को ?

नहीं है न। तो जब सामाजिक व्यक्ति होकर समाज में विचरण करते हैं तो आपको विश्व जीवन की एकता को लेना ही पड़ेगा तभी विश्व शांति सुरक्षित रहेगी। और चूँकि आपके साथ अभी तक शरीर लगा हुआ है, इसलिए सबको अपना मान करके जब भीतर से दुर्भावना का अन्त करेंगे तभी आपके चित्त की शुद्धि होगी। तभी आप आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश पायेंगे। अतः व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माणके लिए आवश्यक बात है कि हम विश्व जीवन की एकता को ध्यान में रखकर सबको अपना मानें।

सबको अपना मानने का अर्थ क्या है ? कि क्रियात्मक सेवा करेंगे निकटवर्ती जन समुदाय की और भावात्मक सेवा करेंगे सारे विश्व की। कठिनाई पड़ेगी ? नहीं पड़ेगी। कमाई हुई सम्पत्ति लगा दो अपने बच्चों के लालन-पालन शिक्षण में। उन्हीं को अधिकारी मान कर उनके जरूरी काम में लगा दो। कोई दोष नहीं लगेगा। लेकिन भला मनाओं सब बच्चों का। फिर जब पैदा किए हुए बच्चे समर्थ हो जाँए तो मोह के अन्धकार में मत पड़े रहो। अब जो शक्ति, जो सम्पत्ति बाकी बच गई है, वो उन बच्चों की मानों जिनके माता पिता नहीं है, अथवा जिनके माता-पिता असमर्थ हैं, अथवा उन बच्चों की मानो जो अधिक प्रतिभावान है; जो तुम्हारे बच्चों से अधिक होनहार है; जो तुम्हारे बच्चों से अधिक उन्नतिशील होकर संसार की सेवा कर सकते हैं उनकी मानो, तो आपके हृदय का विस्तार आरम्भ हो जाएगा। आज क्या हो गया, कि हृदय इतना संकीर्ण हो गया है कि जगत्पति परमात्मा के प्यारे होना पसन्द करते हैं और अपने बच्चों को और भाई के बच्चों को समान दृष्टि से नहीं देख सकते तो 'तुम्हीं हो माता, पिता तुम्हीं हो' यह कथन में रह जाता है और दो बच्चों का बाप मैं हूँ, दो बच्चों की माँ मैं हूँ- यह जीवन में रह जाता है। इस तरह सोचेंगे तो राग-द्वेष नहीं मिटेगा। राग-द्वेष नहीं मिटेगा तो चित्त शुद्ध नहीं होगा, तो सामाजिक कष्ट

भी नहीं मिटेगा, व्यक्ति का कल्याण भी नहीं होगा। आपने सुना होगा, कितनी फैक्ट्रियाँ बन गई हैं दवा बनाने की, जिनमें कैप्सूल के आधे हिस्से में दवाई है तो आधे हिस्से में हल्दी का पाउडर है। मैं कल्पना की बात नहीं कह रही हूँ। कैमिस्ट लोगों की संस्था में जो बड़े नेता हैं उनकी कही हुई बात बता रही हूँ- क्या हो गया ? उसी धरती पर तुमको आश्रय मिला, उसी हवा से साँस लेकर जी रहे हो और उसी प्रकृति का पदार्थ लेकर प्रकृति के दूसरे प्राणी को मारना चाह रहे हो। तो एक को अपना मानना, दूसरों का पराया मानना- उसका यही फल होगा। अपने बच्चों के मोह से प्रेरित होकर उनके लिए बहुत धन इकट्ठा करके जाएँगे- ऐसा सोच करके एक परिवार को श्रीसम्पन्न बनाने के लिए प्रकृति के अनेकों परिवारों को बर्बाद करने का काम आप कर रहे हैं और फिर चाहते हैं कि आधा घण्टा आँख बन्द करें तो समाधि का आनन्द मिल जाए- तो यह सम्भव नहीं है। इसलिए साधक को जगत् के नाते शुद्ध भौतिकवादी होना चाहिए।

भौतिकवाद एक दर्शन है उसका एक सत्य है और आजकल की हवा में भौतिकवादी दृष्टिकोण Materialistic point of view की जो धूम मची है उसको तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि भैया, यह तो भोगवाद है, यह दार्शनिक सत्य नहीं है। खाओ, पीओ, मौज करो- जो अपने पास है सो भी अपना, और जो दूसरों के पास है वो भी छीन झपट के लाओ, यह भौतिकदर्शन नहीं है, यह भोगवाद है। यह बर्बादी का तरीका है। आप सत्संगी भाई-बहन, भौतिकवाद का अर्थ अपनी दृष्टि में रख लें कि जो इस भौतिक जगत् में रहते हुए भगवत् भक्त बनना चाहता है उसको भी और जो निजस्वरूप से अभिन्न होना चाहता है उसको भी प्राकृतिक विशालता के साथ भाई-बन्धुओं के संग व्यवहार करना पड़ेगा। मोह के प्रभाव से आक्रान्त संकीर्ण हृदय वाले लोगों को तो छोड़ दो। यदि साधक

लोग, सत्संगी लोग यह सोंचे कि ये आस्तिक लोग तो मेरे अपने हैं, निकटस्थ हैं और ये अध्यात्मवादी Spiritualists दुनियाँ के बेकार लोग हैं; ये ईश्वर को मानने वाले तो हमारे प्रिय बन्धु हैं और ईश्वर को नहीं मानने वाले अनीश्वरवादी बहुत बुरे लोग हैं - ऐसा करके यदि दिल में भेदभाव हो जाए कि ईश्वरवादी को ईश्वरवादी तो प्यारा लगे और भौतिकवादी दुश्मन के समान लगने लगे तो तुम्हारे ही जीवन में तुम्हारा ईश्वरवाद सिद्ध नहीं हो पाएगा। क्यों ? स्वामीजी महाराज कहते थे कि अरे भइया, वो ईश्वरवादी कैसा, जिसको अनीश्वरवादी प्राणों के समान प्रिय नहीं लगता ? अनीश्वरवादी भी तो अपने प्यारे का प्यारा ही है।

मेरे सामने जब ये विचार आए तो ऐसा लगा मुझे कि जब मेरे प्यारे की मौज है कि पाँच साधक बनाएँगे- एक को राम का उपासक, एक को कृष्ण का उपासक, एक को अनीश्वरवादी, एक को अध्यात्मवादी, एक को योगाभ्यासी। अगर उनको मंजूर है कि पाँच प्रकार के साधक, पाँच ढंग से मेरी आराधना करें तो मेरा क्या अधिकार है जो कहूँ कि सब हमारी ही तरह मान्यता करो। इस तरह यदि मैं साधकों के वर्ग में घेरा डाल देती हूँ तो मेरे अपने ही दिल में घेरा पड़ गया कि नहीं ? और दिल मैं जब सीमा बँध गई- दिल में जब भेद की दीवार खड़ी हो गई तो उस असीम अनन्त से मिलना कभी सम्भव होगा ? घेरा डालना दूसरे के लिए कैसा हुआ, यह तो दूसरे जानें। लेकिन अपना सर्वनाश हो गया कि नहीं ? जिस उद्देश्य को सिद्ध करने चले थे उसी उद्देश्य की पूर्ति में बड़ी भारी बाधा हो गई इसलिए महाराज जी ने चुन-चुन कर तीन वाक्य, ब्रह्म वाक्य की तरह कह दिये कि भाई! तीनों ही दार्शनिक दृष्टिकोण से सत्य हैं - और अगर तुम अपना भला चाहते हो तो हर स्तर पर उस सत्य को स्वीकार करो। पहली बात मानो- सारी सृष्टि में कोई भी पराया नहीं है। सब मेरे अपने हैं, इसलिए सबका भला मनाओ,

सबके प्रति सद्‌भाव रखो। जो आदमी जिसको अपना मान लेता है उसकी बुराई नहीं कर सकता है। जब भौतिकवाद की दृष्टि से सारी सृष्टि के सब शरीरधारियों को आप अपना मान लीजिएगा तो भलाई कीजिएगा। किसी प्यासे को एक गिलास जल पिलायेंगे तो भलाई तो करेंगे सीमित रूप में, लेकिन भला मनाना सब के साथ होगा। किसी की तकलीफ सुनकर भीतर-भीतर कष्ट हो जाएगा। किसी की बुराई आपको अभीष्ट नहीं रहेगी। तो न किसी का बुरा चाहेंगे आप, न किसी की निन्दा करेंगे और न किसी को बुरा समझेंगे, तो इससे चित्त शुद्ध हो जाएगा।

अपने चित्त की शुद्धि अभीष्ट है आपको, तो सबको अपना मानो और हृदय में से बुराई का नाश कर दो। इस व्यापक साधना को अपनाए बिना कोई व्यक्तिगत जीवन को लेकर कोठरी में बन्द हो करके कुछ को अपना, कुछ को पराया मानते हुए अगर किसी मन्त्र के जाप से अपने को शान्त करना चाहे तो वैज्ञानिक सिद्धान्त के विपरीत पड़ेगा। कभी शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिए भी नही मिलती कि कठोर अभ्यास से अपने साधक होने का एक झूठा अभिमान भी हो जाता है। लेकिन शरीर धर्म से कहीं ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति होती है ? भूखे प्यासे, नंगे रहने से कहीं अलौकिक जीवन का अलौकिक तत्त्व अभिव्यक्त होता है ? अरे, मरणशील शरीर है, उसके हित के लिए जो व्रत चाहिए, जो तप चाहिए, सो करो और जिन शरीरों का आश्रय छोड़ देने से अशरीरी जीवन में प्रवेश होता है, उन शरीरों के तप का अभिमान लेकर अध्यात्मवादी बन जाओगे ? नही बनोगे।

एक बार मैं स्वामीजी महाराज के पास कुछ सीखने के लिए बैठी थी। दस मिनट का समय महाराज मुझको देते थे। मैं एक प्रश्न पूछ लेती, महाराज उत्तर दे देते, मैं लिखकर चली जाती, फिर चौबीस घण्टे उसी प्रश्नोत्तर पर विचार करती रहती। एक दिन मैं

गई तो स्वामीजी महाराज मस्ती में देहातीत जीवन के आनन्द में थे बहुत शांत और बहुत प्रसन्न मुद्रा में। मैं दर्शन करने लगी, बोली कुछ नहीं रह-रह कर घड़ी देख रही थी कि हमारा दस मिनट निकला जा रहा है, आज का पाठ रह जाएगा, तो मेरे संकल्प को उन्होंने जान लिया, आँखें खोली। उसी आनन्द की मस्ती में चुटकी बजाकर बोले अरे लाली तुम लोग क्या बुद्धि के चक्कर में पडे रहते हो ? अरे ! मैं तो एक छलाँग में बुद्धि के पार चला जाता था। तो जहाँ इन्द्रिय-दृष्टि बनी है, वहाँ जगत् की प्रतीति हो रही है। जहाँ बुद्धि-दृष्टि बनी है वहाँ जगत् के स्वरूप पर विवचेन चल रहा है। बुद्धि की सीमा के भीतर अगर हम अपने को सीमित रखते हैं तो देहातीत जीवन में प्रवेश सम्भव नहीं है। भीतर में वर्ग का भेद, व्यक्ति का भेद, मोह की सीमा, वर्ग की सीमा न जाने किन-किन सीमाओं में हमने अपने को बाँध लिया है। और उन सारी सीमाओं को रखते हुए उस असीम अनन्त से मिलना चाहते हैं तो यह सम्भव नहीं है। इसलिए भौतिकता की उपेक्षा करके आध्यात्मिकता सिद्ध नहीं हो सकती।

अनुभवी संतजन संसार की निन्दा करने की सलाह नहीं देते। आलोचना करने मात्र से काम चलेगा- ऐसा नहीं सिखाते। बुरा मानो, उसकी ओर से रूठ कर बैठ जाओ तो संसार से तुम्हारा पिण्ड छूटेगा- यह सम्भव नहीं है। जगत् के प्रति जो तुम्हारा देय है, वह देना भी है। जगत् के लिए जो सही दृष्टिकोण है उसको अपनाना है और अपने भीतर से भेद-भाव की सीमा को समाप्त करना है। इस भौतिक दर्शन के सत्य को जो लेकर चलेगा, उसके द्वारा समाज में शान्ति का विस्तार भी होगा दुर्बल-निर्बल की एकता भी स्थापित होगी और उसके भीतर की भेद-भाव की सीमा भी टूट जाएगी। उसका चित्त शुद्ध हो जाएगा तो उसे समाधिस्थ होने में भी सहायता मिलेगी।

अब दूसरा 'स्प्रिच्यूलिज्म' Spiritualism जो है अध्यात्म-दर्शन का सत्य जो है, वह ऐसा है कि जो मेरा दृश्य बन गया वह तो 'पर' है। दृश्यों से अतीत अस्तित्व जो है वह मेरा 'स्व' है। तो मुझे चाहिए अलौकिक जीवन और शरीर को चाहिए संसार का सम्पर्क। एक ही व्यक्तित्व के इन दोनों पहलुओं को जो अलग-अलग ढंग से इनकी स्वाभाविकता के अनुसार साधना में नहीं लगाएगा वह शरीरों से असंग नहीं हो सकेगा। शरीरों से तादात्म्य टूटेगा नहीं तो अमर जीवन की कल्पना रह जाएगी- अमर जीवन का आनन्द नहीं मिलेगा। सोचो इस पर भी।

एक दक्षिण भारतीय सन्त हैं - माँ चिन्नम्मा। उनके एक बड़े अच्छे भक्त हैं, बिल्कुल विरक्त संत। वे जब स्वामीजी महाराज को मिले तो उन्होंने कहा, मेरे गुरु महाराज अर्थात् चिन्नम्माजी ने कहा था कि उत्तर भारत के प्रज्ञाचक्षु संत मिलेंगे तब मेरा कल्याण होगा। मैं प्रतीक्षा में था महाराज, और आप मिल गए हैं तो अब मेरा कल्याण करिए। बताइए रास्ता। उन्होंने अपने गुरु का संवाद सुनाया और कहा कि वो ऐसी विवेकवती माँ थी कि गृहस्थ जीवन में तीन बच्चों की माँ और ज्ञान का प्रकाश उनके भीतर सब समय। देह-देही विभाजन का खूब स्पष्ट ज्ञान रहता था। एक दिन वो तीनों बच्चों को भोजन कराने बैठी तो सोचने लगीं कि ये तीन बच्चे तेरे हैं तो बाकी किसके हैं ? और बाकी तेरे नहीं है तो ये तीन भी तेरे कैसे हैं ? खाना परोसते-परोसते उनके ध्यान में आ गया कि नहीं, नहीं, त्रिकाल में भी मेरा किसी से भी सम्बन्ध नहीं है। तो अध्यात्म-जीवन का दर्शन आपके सामने आ गया कि त्रिकाल में भी इस प्रतीत होने वाली सृष्टि से मेरा नित्य सम्बन्ध नही है। बच्चों ने जब खाना शुरू किया तो वो निकल कर के वहाँ से चली गई। घर से बाहर दरवाजे पर थोड़ी दूर पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गई। सास, पति और बच्चे सब जानते थे कि इनके भीतर जब ज्ञान का प्रवाह आता है तो यह

ऐसे हो जाती हैं दस ग्यारह बजे रात तक सबने प्रतीक्षा की कि अब उठ कर आ जाएगी तो दरवाजा बन्द करेंगे सोयेंगे, पर वे आई नहीं, तो धीर-धीरे जाकर लोगों ने मनाना शुरू किया कि भाई, बहुत देर हो गई, अब चलिए। कहाँ जाऊँ शरीरों से तादात्म्य टूटा तो कहाँ जाए, कौन जाए, क्यों जाए ? सास बेचारी क्या उत्तर दे, पति बेचारे क्या उत्तर दे ? किसी से कुछ उत्तर देते बना नहीं। उसके बाद से चेन्नम्मा माँ को फिर किसी ने घर में नहीं देखा। बहुत विरक्त सत्त। शरीर पर कपडा है तो ठीक है नहीं है तो ठीक है देहातीत जीवन में ऐसी मस्त रहने वाली माँ ! जब नगर के लोग दुःख से दुःखी, सत्य के जिज्ञासु, साधक समाज के लोग - सब चले जाते जंगल में, जहाँ पता चलता कि आजकल माँ वहाँ हैं, तो सब लोग दूर-दूर घेरा डाल करके बैठते। पुरुष लोग निकट जा नहीं सकते थे- ठिकाना नहीं कि उनके बदन पर कपड़ा है कि नहीं है। सब दूर-दूर घेरा डाल करके बैठ जाते। जब कभी वो मस्ती में आ जाती उठकर बैठती, लोगों की ओर देखकर पूछती- बोल तेरा क्या दुःख है? तो वो सन्त बताते, कि माँ का पूछना होता कि तेरा क्या दुःख है, दुःखी का दुःख खत्म हो जाता। जिज्ञासु जिज्ञासा लेकर गया, बहुत व्यग्र होकर गया। भीतर प्रश्न लेकर चुपचाप बैठा है। माँ अपनी मस्ती में मस्त हैं- न शरीर है, न संसार है- निज स्वभाव की मस्ती है, आनन्द है और कुछ नहीं है। आनन्दमय अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं और जगत् के कल्याण के लिए सृष्टि कर्ता के मंगलमय विधान से उनकी आँख खुली, उन्होंने जगत् की ओर देखा तो बिना आपके कुछ कहे अपनी ओर से पूछेंगी- "बोल तेरा प्रश्न क्या है?" तो प्रश्नकर्त्ता के भीतर उत्तर आ जाता। " माँ, प्रश्न का उत्तर मिल गया।" "जा उठ जा, भाग जा, हो गया। " तो अध्यात्म दर्शन का जो सत्य है कि सचमुच मेरा कभी प्रतीत होने वाले जगत् से, किसी से त्रिकाल में भी सम्बन्ध नहीं है- यह सत्य इतना जोरदार होता है और इसी को मैं मानव-जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार मानती हूँ

सबसे बड़ा चमत्कार ! कि एक छोटे से शरीर का आकार लेकर धरती में नगण्य होकर हम विचरण कर रहे हैं और इस सीमित नगण्य शरीर के रहते हुए ज्ञान के प्रकाश में, शरीरों से तादात्म्य तोड़कर, अशरीरी आनन्द का अनुभव आप कर सकते हैं यह कोई मामूली बात है? लेकिन उस पर दृष्टि जाती नहीं तो हम लोग अजीब-अजीब चीजों को इकट्ठा करके उनके बल पर मन बहलाना चाहते है। कितना धोखा है ! सोचो ! तुम्हारा मन जड़ जगत् की वस्तुओं से बहल जाएगा? अध्यात्म दर्शन का जो सत्य है उसको अगर सामने रखकर प्रवृत्ति को अनिवार्य रूप से जीवन में न रखो, तो कौन सा उपाय है कि शरीर की सीमा पार करके उस असीम आनन्द का अनुभव कर सकोगे ? अरे भाई ! बढ़िया-बढ़िया सुन्दर वस्त्राभूषण से नहीं सजाया तो भभूती लगाकर उसको विशेष बना लो ! हो गया काम। हीरा मोती उतार दिया तो तुलसी के दाने बाँधकर कर लो शृंगार। आ गया महत्त्व ? नही आया तो। जो दार्शनिक सत्य है वह बड़ा जोरदार है, आँख बन्द करने से नहीं होगा, भागने से नहीं होगा। विवेक के प्रकाश में देखकर तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ने से होगा।

(67)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

सन्तवाणी में जीवन का सत्य हम लोगों ने सुना। दो बातों पर स्वामीजी महाराज विशेष रूप से हमारा ध्यान दिलाते हैं। एक यह कि सचमुच इस जगत् में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है और दूसरी बात यह, कि वस्तुतः मुझे अपने लिए कुछ चाहिए नहीं।

मेरा कुछ नहीं है - इसको हम लोग थोड़ी कम कठिनाई के साथ स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि देखने में आता ही है कि जिसको

हमने अपना करके माना, वह हमारा होकर रह न सका- इस बात को हम सब लोग अपने द्वारा अपने जीवनकाल में जान लेते हैं जैसे हमने प्रारम्भ से ही ऐसा मान लिया कि ये मेरी आँखें हैं और उनको बहुत पसन्द किया, उन्हें बहुत आवश्यक माना। शरीर रह गया, जगत् को देखने की जरूरत रह गई और जिन आँखों को हमने अपनी करके माना था और उनकी बड़ी आवश्यकता भी महसूस की थी वे आँखें हमें छोड़कर चली जा रही है। उनकी रोशनी घटती जा रही है अब ऐसा लगता है कि कुछ दिनों के बाद जो बची-खुची रोशनी है वो भी खत्म हो जाएगी, तो हम कुछ भी देख नहीं पायेंगे। तो उन आँखों को ये मेरी है, ऐसा करके कहने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।

जिन कुटुम्बियों के साथ शरीर के नाते से माता-पिता, पति-पत्नी होकर अथवा बाल-बच्चों के सम्बन्ध से हम अपनापन मानते हैं, वह अपनापन भी सदा के लिए निभता नहीं है। अत्यन्त प्रिय लगने वाले, अपने कहे जाने वाले कुटुम्बियों को या तो हम ही छोड़कर चल देते हैं या वे ही हमें छोड़कर चले जाते हैं- इस प्रकार उनके साथ भी माना हुआ सम्बन्ध निभता नहीं है। ऐसे ही आप वस्तुओं के सम्बन्ध में भी देख लीजिए। जिन वस्तुओं को हम बहुत महत्त्व देते हैं, बहुत सँभालकर रखते हैं, उनका भी या तो नाश हो जाता है या फिर हमीं उन्हें छोड़ देते हैं।

एक साधक थे। उन्होंने अपनी सुविधा के लिए बहुत-सी वस्तुएँ इकट्ठी कर रखी थीं। धीरे-धीरे जब उनकी शारीरिक असमर्थता बढ़ने लगी तो उन्होंने सोचा कि शरीर के कारण से इन वस्तुओं का महत्त्व था और मैंने इनका खूब उपयोग भी किया। लेकिन अब ऐसा मालूम होता है कि शरीर इन वस्तुओं का उपयोग करने अथवा उन्हें सँभालकर रखने के लायक नहीं रहेगा- ऐसा सोचकर शरीर के बिगड़ने से पहले उस भले आदमी ने अपनी प्यारी-प्यारी सुरक्षित

वस्तुओं को बाँटकर अपने को खाली कर लिया कि अब इनको रखने से नुकसान होगा। क्या नुकसान होगा ? कि हम सँभाल नहीं सकेंगे तो वस्तुएँ बर्बाद होंगी और वस्तुएँ बर्बाद होंगी तो भीतर-भीतर उनका लोभ सतायेगा, तो दोनों तरफ से गए। सँभाल न सके तो वस्तुएँ गईं और वस्तुएँ गईं तो उनके लोभ से पीड़ित होकर खुद डूबे। तो दिल में वस्तुओं, व्यक्तियों का चिन्तन रहता है। लेकिन हमारे मन में किसका चिन्तन होना चाहिए ? किसकी याद हमारे लिए कल्याणकारी है ? निःसन्देह परमात्मा की याद ही हमारे लिए कल्याणकारी है।

तो जिसकी याद हम भाई-बहनों के लिए कल्याणकारी है, उसकी जगह पर बर्बाद होती हुई वस्तुओं का चिन्तन सतावे तो बहुत बड़ी हानि हो गई। उन साधक भाई को समय पर यह बात सूझ गई तो उन्होंने अपनी सब वस्तुएँ बाँटकर अपने को खाली कर लिया।

अब आप सोचेंगे कि इसी प्रकार से हम सब लोगों के लिए बड़ा सहज पड़ता है इस बात को स्वीकार करना कि सचमुच संसार में मेरा करके कुछ नहीं है। केवल ममता के दोष से ही हम वस्तुओं को इकट्ठा करते रहते हैं, उनके सदुपयोग की बात अलग है। जन-हितकारी कार्य में लगाने के लिए जो सामग्री हम जुटाते हैं, वह अलग है।

ऐसे ही एक दिन मैं एक सभा में बोल रही थी। एक टेप रिकार्डर मेरे सामने रखा हुआ था जिसे कि स्वामीजी महाराज के वचन सुनाने के लिए मैं सब जगह अपने साथ ले जाती थी। सन्तवाणी सुनाने के बाद मैं बोलने लगी और ऐसे कहने लगी कि हमारे कल्याण के लिए सन्त के वचन में यह सुनाया जा रहा है कि मेरा करके कुछ नहीं है कि थोड़ी देर के बाद एक भाई ने एक slip लिखकर भेजी कि हम लोग सुन रहे हैं कि मेरा करके कुछ नहीं है,

तो जिस टेप-रिकार्डर से आप काम लेती हैं, वह मैं माँग रहा हूँ, आप मुझे दे दीजिएगा ? यह मेरी परीक्षा ली उन्होंने, कि मुखसे तो कह रही हो कि मेरा करके कुछ नहीं है, मेरे माँगने पर टेप-रिकार्डर (Tape recorder) मुझे देकर प्रमाणित करो कि सचमुच मेरा कुछ नहीं है। इस पर मैंने कहा कि वह तो मैं नहीं दे सकती। इसलिए नहीं कि मशीन मेरी है। वस्तुतः यह मेरी नहीं है। लेकिन सार्वजनिक कार्यों में इसका उपयोग होता है इसलिए मैं आपको नहीं दे सकती। इसका अर्थ यह भी नहीं कि मैं इस पर अधिकार मानती हूँ। लेकिन आपको इसलिए नहीं दे सकती कि इस वस्तु का सदुपयोग हजारों सत्संगी भाई-बहनों की सेवा में हो रहा है।

वस्तु मेरी नहीं है- इसका मतलब यह नहीं कि इसको खुले छोड दो कि चोर उठाकर ले जाए, कोई छीनकर ले जाना पसन्द करे, कोई दुरुपयोग करने वाला ले जाना पसन्द करे या कोई उठाकर फेंक देना पसन्द करे, तो तुम इस व्रत को पालो कि मेरी नहीं है तो जिसके जी में जो आए सो कर डाले। सो अर्थ नहीं है। आप उसके प्रति ममता मत रखिए। एक बात और। आप उसको सँभालकर हिफाजत से रखिए। क्यों ? क्योंकि वह सामूहिक जीवन के लिए हितकारी है और हितकारी कार्य में उसका सदुपयोग करना है।

जो भौतिकवादी हैं वो कहेंगे कि जगत् की वस्तु है तो मेरी नहीं है, इसलिए उसके प्रति ममता करने का अधिकार मेरा नहीं है। ठीक है। यदि उससे प्रति ममता करने का अधिकार मेरा नहीं है तो बर्बाद करने का भी अधिकार मेरा नहीं है। ठीक है न ? पराई चीज को तुम अपने कब्जे में सँजोकर नहीं रख सकते तो उसे बर्बाद भी तो नहीं कर सकते। इसलिए जगत् की वस्तु है तो उसे बर्बाद नहीं करना है।

जो ईश्वर-विश्वासी हैं, वे हर वस्तु को भगवान की मानते हैं। तो अपने प्यारे की वस्तु है तब भी इसे बर्बाद नहीं करना है। मैंने तो प्रभु के प्यारों को वस्तुओं के साथ व्यवहार करते देखा है। वे किसी भी वस्तु के साथ थोड़ा सा भी सख्त व्यवहार नहीं कर सकते। अगर कोई वस्तु उठाकर आप जमीन पर पटक दें तो प्रभु-प्रेमी वस्तु को यों पटक देना पसन्द नहीं करते। क्यों नही करते है। क्योंकि उनको धक्का लगता है। अरे प्यारे की चीज है उसका अनादर कैसे कर दिया तुमने ? उसको पाँव कैसे लगा दिया ? उसको पटक कैसे दिया तुमने- ऐसा होता है। तो प्यारे की वस्तु है, मेरी नहीं है, ममता खत्म हो गई है और काम में लाने के लिए साधक मात्र की है, तो सदुपयोग करो उसका। वस्तुओं का उपार्जन करना, उनका सदुपयोग करना और उनकी सुरक्षा करना मना नहीं है। उपार्जन भी करो, वितरण भी करो, सदुपयोग भी करो, और सुरक्षित भी रखो। यह सब ठीक है। केवल अपनी व्यक्तिगत मानोगे तो फँस जाओगे।

बड़े-बड़े ऊँचे सन्त जो होते हैं वे हर वस्तु को परमात्मा की मानकर उसको खराब करने देना पसन्द नहीं करते हैं। आनन्दमयी माँ के जीवन की बात है। मैंने ऐसा सुना है कि उनके आश्रम में एक बार किसी ने थाली में चावल-दाल खाया और खाते-खाते कुछ हिस्सा उसमें छोड़ दिया जिसे उसने ले जाकर पानी डालकर गिरा दिया। चावल-दाल पानी के साथ नाली में बहने लगा। माता जी उधर से निकलीं। उन्होंने देखा कि नाली में पका हुआ चावल-दाल बह रहा है, तो उन्होंने उस दाने को चुनकर उठाकर खा लिया। यह कोई कल्पना या कथा-कहानी नहीं है, यह सच्ची घटना है। उन्होंने ऐसा क्यों किया ? क्योंकि वे किसी भी वस्तु को बर्बाद करना देख नहीं सकतीं, सहन नहीं कर सकतीं। क्यों? क्योंकि हर एक वस्तु परमात्मा की है। जब हर एक चीज हमारे प्यारे की है तो कोई चीज खराब क्यों होगी ?

वस्तु को अपनी मानकर उसकी ममता में आबद्ध हो जाना और पराई मानकर उसका दुरुपयोग करना- दोनों ही असाधन हैं। व्यावहारिक जीवन में हमें इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। अब देखिए, आप पर मंगलमय विधान से, भगवान की कृपा हो गई तो एक सन्त को प्रेरित करके उन्होंने संस्था बना दी। किसलिए ? कि कमाई करने की चिन्ता से मुक्त होकर, आराम से बैठकर तुम साधन कर सको। तो जिस संस्था के आश्रय से तुम अपने साधन में निर्विघ्न आगे बढ़ सकते हो, उस संस्था की सम्पत्ति की सुरक्षा का भार अपने पर ले लो तो साधन होगा। इन छोटी छोटी बातों की ओर मैं ध्यान इसलिए दिलाती हूँ कि प्रायः लोग सोचते हैं कि माला जपना साधना है, चुप होकर बैठकर ग्रन्थ का पाठ करना, दोनों समय मन्दिर में दर्शन करने जाना, प्रभु की लीला का दृश्य-रास देखना साधना है। ये सब अच्छी बातें हैं। इनकी निन्दा नहीं है, इनको बेकार नही बताया गया है। लेकिन आप इन बाहरी बातों में तो खूब लगे रहिये और व्यावहारिक जीवन में जो छोटे-छोटे दोष हैं, त्रुटियाँ हैं, उनसे अपने को न बचाइये तो चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। दर्शन करने जाओ और परमात्मा की वस्तु परमात्मा की न मानकर अपनी मानकर उस पर अधिकार जमाओ तो तुम वस्तु के हाथ बिक गए।

एक प्रश्नकर्त्ता ने एक प्रश्न लिखकर भेजा है कि सब प्रकारसे प्रेम-पात्र के केसे होवें? तो इस चर्चा से इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाएगा कि मन्दिर में जाकर हम भगवान के दर्शन करें, उनको प्रणाम करें- यह भक्ति और प्रेम को बढ़ाने के लिए अच्छी बात है, लेकिन यहाँ आकर व्यवहार जगत् में वस्तुओं के प्रति लापरवाही करें, व्यक्तियों के प्रति दुर्भावना रखें तो यह ईश्वर पूजा हो गई ? नहीं हुई। मन्दिर में जाकर सिर झुकाने का मतलब होता है 'समर्पण' और उस समर्पण को जीवन के हर क्षेत्र में निभाना चाहिए। स्वयं

सन्त जन किसी भी वस्तु को अपना मानकर उस पर अधिकार नहीं जमाते। मानव सेवा संघ के प्रणेता श्री स्वामीजी महाराज ने कई बार कहा है कि यह संस्था मेरी नहीं है, मैंने नहीं बनाई है। भगवान ने साधकों के कल्याण के लिए बनवाई है, वे ही इसे चलाएँगे।

हम सब लोग मानव सेवा संघ की पहली पीढ़ी के साधक हैं। हम लोगों ने संघ के प्रवर्तक के चरणों में बैठकर उनके वचनों को सुना है। उनके जीवन को, उनकी रहनी को देखा है, उनके आशीर्वाद से उनके सद्‌भाव को प्राप्त किया है तो हम भाई बहनों को अपने पर बड़ी भारी जिम्मेदारी समझनी चाहिए कि हमारे जीवन में ऐसी कोई बात न हो जो उनके सिद्धान्त के खिलाफ जाती हो।

अब अगला सूत्र है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। इसके बिना किसी का किसी प्रकार का विकास नहीं हो सकता। इसको मानने में हम लोगों को कठिनाई लगने लगती है, डर लगने लगता है, भीतर से संकोच होने लगता है कि क्या करें, ऐसे ऐसे असमर्थ शरीरों को लेकर बेठे हैं कि कैसे कहें कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। उठा नहीं जाता तो कोई हाथ पकड़ कर उठा दे, चला नहीं जाता तो कोई चला दे, बनाया नहीं जाता तो कोई बना कर खिला दे- इतनी प्रकार की आवश्यकताएँ हमारी पैदा हो गई है। कुछ आदत के कारण, कुछ आलस्य, कुछ शारीरिक असमर्थता और कुछ संकल्पों के वेग के कारण इतनी जरूरतें पैदा हो गई है कि यह कहते नहीं बनता कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। तो इसके सम्बन्ध में मैंने ऐसा समझा कि यदि तुम जीवन के दार्शनिक सत्य को लेकर देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि वस्तुतः तुमको कुछ नहीं चाहिए, अर्थात् जो मेरा अपना स्वरूप है, उसे जड़-जगत् से कुछ नहीं चाहिए और एक ईश्वर-भक्त जो उनके प्रेम के रंग में रँगा हुआ है उसे भी जड़-जगत् से कुछ नहीं चाहिए। तो हमारे स्वरूप की बात हो गई कि सचमुच हमको कुछ नहीं चाहिए।

अब अगर किसी वस्तु अथवा व्यक्ति पर हमारी दृष्टि जाती है तो यह अपने लिए, कि शरीर की आवश्यकता के लिए ? यदि शरीर की आवश्यकता के लिए वस्तु चाहिए तो ठीक है। अब अपनी दुर्बलता, भय और चिन्ता को संग लेकर साधना आरम्भ करने की बात मैं कह रही हूँ। मान लो कि शरीर के साथ हमारा इतना लगाव है कि इस वचन को दुहराने में डर लगता है कि मुझको कुछ नहीं चाहिए तो महाराज जी कहते हैं कि तुम डरो मत, सत्य तो यही है कि अमर जीवन के अभिलाषी को जगत् से कुछ नहीं चाहिए; प्रभु-प्रेम के अभिलाषी को जड़-जगत् से कुछ नहीं चाहिए। जगत् अगर हमको प्रभु-प्रेम दे सकता तो अब तक मिल ही गया होता। जब से जंन्में हैं तब से जगत् के ही संग में हैं, अगर इसने दिया होता तो अपना काम पूरा हो गया होता। लेकिन यह नहीं दे सका। वस्तुतः मुझे जिसकी माँग है वह जगत् दे ही नहीं सकता, इसलिए मुझे जगत् से कुछ नहीं चाहिए। प्रेम और ज्ञान के लिए संसार से हम लोगों को कुछ लेना ही नहीं है। अब रह गया शरीर, जिसके लिए बड़ा भारी भय है, तो क्या करें? लोगों के बीच में रहकर लोगों की सहायता नहीं लेंगे तो कैसे काम चलेगा ? उसके सम्बन्ध में महाराज जीने कहा कि भाई, अब शरीर की बात रह गई तो उसमें जितनी भी शक्ति है, उससें सामूहिक जीवन में काम करते जाओ अपनी तरफ से, तो जो शरीर समाज के काम आयेगा, उस शरीर की जरूरत समाज पूरा नहीं करेगा?

जो शरीर समाज की सेवा में, परिवार की सेवा में लगा रहता है, उसकी चिन्ता, उसकी सँभाल तो दूसरे लोग करते ही हैं, बिना कहे, बिना चाहे, बिना माँगे। मुझे याद आता जब मैं स्वामीजी महाराज के पास आई तो आते ही लिखना आरम्भ किया, दस वर्ष तक साहित्य मैं लिखती रही। मैं आपकी सेवा में यह निवेदन करना चाहती हूँ कि उस समय मैं निर्भय, निष्काम और सब प्रकार से

भगवत् समर्पित हो गई थी- ऐसा तो मैं नहीं कह सकती। लेकिन मैंने अपनी ही समस्याओं को सुलझाने के लिए काम करना आरम्भ किया तो अन्तर्दृष्टि रखने वाले सन्त ने उसको इस प्रकार से लिया, इतना सुन्दर उसका सम्पादन करा दिया कि युग-युग के लिए आने वाले साधकों के लिये उसको उपयोगी बना दिया। तो उस तरह से काम में लग जाने पर भी अगर समाज की उदारता साथ देती है, तो सोच विचारकर जो लोग सामूहिक कार्य में हाथ डालते हैं उनके शरीर की जरूरत पूरी नहीं होगी? एक बात हो गई।

अब दूसरी बात जो मैं सोच रही हूँ वह इसके विपरीत है। मान लीजिए कि मंगलकारी परमात्मा ने सामाजिक कार्य में हाथ डालते ही आपके व्यक्तिगत शरीर का सब भार अपने हाथ में ले लिया तो आपकी सब आवश्यकताओं की पूर्ति समय पर हो जाती है। लेकिन अगर कभी आवश्यकता की पूर्ति समय पर न हो या आपकी रुचि के अनुरूप न हो तो आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। आपके भीतर क्षोभ पैदा नहीं होना चाहिए अपितु यह भाव आना चाहिए कि क्या जाने मेरे परम हित-चिन्तक मुझे दृढ़ करने के लिए यह खेल कर रहे हों; क्या जाने वो लीलाधर यह दिखाने के लिए यह लीला कर रहे हों कि कहीं मैं समाज की वस्तु पर अपना अधिकार तो नहीं मानने लगी। यदि ऐसी कोई परिस्थिति आए तो क्षुब्ध होने के स्थान पर हर्षित होना चाहिए, आनन्दित होना चाहिए। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि इस प्रकार की कोई कठिनाई साधक के सामने यदि आए और उस कठिनाई को वह हर्ष पूर्वक सहन कर ले तो उसे बड़े भारी तप का फल मिलेगा।

सार्वजनिक कार्य करने पर जहाँ समाज व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन करता है, वहाँ उसकी सेवा और त्याग की भावना के लिए उसे सम्मान भी खूब देता है। लेकिन वह सम्मान उसकी खुराक नहीं बन जानी चाहिए। यदि समाज में

उसके लिए कभी अपमानजनक या प्रतिकूल परिस्थिति बन जाती है तब भी उसे क्षुब्ध न हो कर हर्षित होना चाहिए कि समाज के दिए हुए सम्मान की खुराक से बचाने के लिए और उसमें सम्मान और अधिकार की लिप्सा या अपने कर्तृत्व के अभिमान का दोष तो नहीं आ गया, यह दिखाने के लिए, उसके प्यारे ने यह परिस्थिति तो नहीं बनाई।

ऐसी कठिन परिस्थितियों में साधक को सतर्क हो जाना चाहिए। ऐसे में उसे अकेले बैठकर अपने भीतर झाँककर देख लेना चाहिए कि वहाँ क्या हो रहा है। तो उसे पता चल जाएगा कि इतने दिन के आश्रमवास और सेवाव्रत का कितना फल हुआ, उसका चित्त कितना शुद्ध और शान्त हुआ ? अगर भीतर का सन्तुलन ठीक है, कर्त्तव्य की याद है, व्रत की याद है, प्यारे की याद, सन्त और सन्तवाणी की याद है तो शान्ति रहेगी। और अगर शान्ति भंग होती है तो इसमें इन सबका दोष है या अपना दोष ? -यह समझ में आ जाएगा तो सुधार हो जायेगा। इसी का नाम साधना है।

अब अन्तिम सूत्र है कि सब प्रकार से प्रभु के होकर रहना- इसके मूल में क्या है ? एक ही बात है, जो तन का होकर रहेगा, जो धन या कुटुम्ब का होकर रहेगा वह प्रभु का होकर नहीं रह सकेगा। यह खास बात हैं प्रभु के होकर रहने के लिए इन सारी ममताओं को छोड़ना पड़ेगा और कभी-कभी महाराज जी ऐसे भी कहते थे कि देवकीजी, वे इतने विशाल हैं, इतने विशाल हैं कि तुम्हारे हृदय में एक सुई के लिए भी ममता रह गई तो वे उसमें समायेंगे नहीं। वे इतने बड़े हैं कि पूरा हृदय एकदम खाली कर दो, तब वे समा सकेंगे।

सत्य से अभिन्न होने के लिए जिन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन महाराज जी ने किया, वो उनके जीवन के शोध का परिणाम है। एक बार का प्रसंग है। १९५६ में फरवरी महीने में चम्बल

तट पर सम्मेलन हो रहा था मानव सेवा संघ का। बहुत बड़ी सभा थी। कितने हजार लोग खुले मैदान में चम्बल के तट पर बैठे थे। बड़ा ऊँचा मचान बना था, जिस पर बैठकर हम लोग सत्य की चर्चा करते थे। एक दिन प्रातःकाल की बैठक में सर्दी भी खूब थी, तो स्वामीजी महाराज मंच पर बोलने के लिए खड़े हुए। एक तो मंच ही बहुत ऊँचा था और उस पर स्वामी जी महाराज की काफी ऊँचाई थी और खादी की धोती गेरू रंग में रँगी हुई पहन कर ऊपर खड़े होकर बोल रहे थे। मुझे बड़ा अच्छा लगा। मैं देख रही थी दूर से, बहुत प्रसन्नता हो रही थी। बातचीत हो गई तो महाराज जी उतरकर आ गये गुफा में बैठगए। हम सब लोग भी उनके पास बैठगए। हँसते-हँसते मैंने कहा कि स्वामीजी महाराज आज तो खादी की धोती पहनकर राजनैतिक नेताओं की तरह व्याख्यान दे रहे थे। तो महाराज जी हँसे। कहने लगे कि देखो ये कैसे बात करती हैं देवकी जी, मुझसे डरती भी नहीं हैं। हँस लिए सब लोग। फिर उसके बाद एकदम गम्भीर मुख-मुद्रा में मुझसे कहने लगे कि देवकीजी, मैं साधक समाज को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि लँगोटी पहनने से अगर सत्य मिलता है तो धोती पहनने से भी सत्य मिलता है। सत्य की अभिव्यक्ति में धोती और लँगोटी का भेद नहीं है। बड़ी क्रान्तिकारी बात थी। कटिवस्त्र धारण करने वाले संन्यासी, उन्होंने सत्य की अभिव्यक्ति की मौलिक बात को समाज के सामने रखा और केवल मुखसे कहकर नहीं, करके दिखाया। वस्तुतः इन बाहरी बातों में साधक—समाज उलझ जाता है। अन्तर की बात अधूरी रह जाती है। बहुत बड़ा घाटा लगता है। स्वामीजी महाराज के भीतर इस बात की बड़ी व्यथा थी कि साधक को सीधे सत्य की अभिव्यक्ति की सच्ची और मौलिक बात बता दी जाए, जिसमें कि वह सर्वथा स्वाधीन है। बाहर का रहन-सहन, विधि-विधान, खान-पान- यह सब बाहरी बातें हैं। सत्य की अभिव्यक्ति से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(68)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

सब प्रकार से प्रभु के होकर रहना- यह एक बहुत बढ़िया बात है मनुष्य की ओर से। जिस समय कोई साधक इस बात को अपनी ओर से मानकर ठान लेता है कि अब हम हर प्रकार से उन्हीं के होकर रहेंगे, तो उसके जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन आता है। ऐसा कौन कर सकता है कि अब हम हर प्रकार से उन्हीं के होकर रहेंगे? सोच कर देखिये। तो ऐसा परमात्मा के प्रेमीजन, उनके अनुरागी भक्त ही कर सकते हैं।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई ! सन्त के कहने से, भक्त के कहने से, तुम मान लो कि परमात्मा से ही मेरा नित्य सम्बन्ध है। वही मेरा अपना है अथवा मैं केवल उन्हीं का हूँ। अपनी ओर से मान लो। यह मत पूछना कि भगवान कहाँ हैं ? कैसे हैं ? कब मिलेंगे ? क्या करते हैं? हम उनके समर्पित हो जायेंगे तो इसके बदले में वे हमारे साथ क्या-क्या करेंगे ? ऐसा कुछ मत पूछो। क्यों ? इसलिए कि हम लोगों ने सुना है कि परमात्मा सर्व सामर्थ्यवान हैं। दुर्बल आदमी को कोई सामर्थ्यवान सहारा मिले तो कौन इन्कार करेगा। वे सृष्टि के मालिक हैं, अनन्त सौन्दर्यवान हैं - अगर किसी को ऐसा सम्बन्धी, मित्र या रक्षक मिलता हो तो कौन इन्कार करेगा ? सबको स्वीकार हो जायेगा। क्यों? क्योंकि मैं दुर्बल हूँ और वे अनन्त सामर्थ्यवान है, तो उनका बल मेरे काम आ जायेगा। मैंने अनेक प्रकार के अपराध किये हैं और वे पतित-पावन हैं तो उनकी पतित-पावनता मेरे काम आ जायेगी। मेरे भीतर दरिद्रता है और वे सृष्टि के मालिक हैं तो उनकी सम्पत्ति मेरे काम आ जायेगी - ऐसा ध्यान में आयेगा। इसलिए महाराज जी कहते हैं कि पूछो ही मत कि वे कहाँ, केसे हैं, क्या करते हैं? और यह भी ध्यान में मत रखो कि मैं उनका हो जाऊँगा तो वे हमको क्या- क्या देंगे। इसलिए कि अगर

ऐसी बातें सोचोगे और पूछोगे तो जिस चाह और संकल्प को लेकर तुम संसार में फँसे हुए हो, उन्ही संकल्पों को लेकर परमात्मा के बारे में सोचोगे, तो संकल्पपूर्ति की दुर्दशा से ऊपर नहीं उठ सकोगे।

स्वामीजी महाराज का कहना है कि अपना संकल्प लेकर जाओ, अपनी कामनाएँ लेकर जाओ तो भगवान भी संसार है। और कामनाओं से रहित होकर जाओ तो संसार भी भगवान है। एक दूसरी जगह उन्होंने लिखाया है कि जो कुछ चाहता है भगवान उसके पीछे खड़े रहते हैं और जो कुछ नहीं चाहता है उसके वे सामने आ जाते हैं। एक बार इलाहावाद में एक लड़के ने उससे पूछा, कि बाबाजी ! आप भगवान को दिखा सकते हैं ? तो स्वामीजी ने कहा- हाँ, मैं दिखा सकता हूँ। तो बताइये भगवान कहाँ है। ? उन्होंने कहा कि तेरे पीछे हैं। उस लड़के ने पीछे मुड़कर देखा तो उसको तो कुछ दिखा नहीं। उसने कहा- कहाँ दिखते हैं पीछे ? तो स्वामीजी ने कहा कि तू पीछे कहाँ देख रहा है ? यों करके देखा तो सामने ही तो हुआ। पीछे देख तो तुझे भगवान नजर आएँ। इन बातों में बड़ा रहस्य है। क्या रहस्य है ? कि जो कुछ भी चाहता है, संसार से न चाहता हो, परमात्मा से ही सही, उसे परमात्मा मिलेंगे तो संसार के रूप में ही मिलेंगे। क्योंकि कामना तो संसार की ही होती है। लोभी अगर धन की कामना लेकर भगवान से मिलने जायेगा तो भगवान धन होकर उसको मिलेंगे तभी उसको सन्तोष होगा। इसी तरह से जो कुछ भी चाहता है उससे परमात्मा मिलते हैं तो संसार होकर मिलते है।

बढ़िया प्रश्न है कि हम सब प्रकार से उनके होकर रहें- एक प्रकार से नहीं, सब प्रकार से। सब प्रकार से उनके होकर रहने का अर्थ क्या है ? कि उनके अतिरिक्त मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। बड़ी भारी कसौटी है। जिसको कुछ भी चाहिए उसके लिए अपने ही में विद्यमान परमात्मा का अनुभव दुर्लभ है। अपने पर अपना अधिकार

नहीं है। मुझ पर मेरा अधिकार नहीं है। क्यों ? क्योंकि मैंने अपने को तो उनके समर्पित कर दिया और कोई वस्तु अपने किसी प्रियजन को दे दें तो उसके बाद, उस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं रह जाता है। जिसने अपने को ही परमात्मा को दे दिया, वह अपने पर अपना अधिकार कैसे मानेगा। और अपने पर अधिकार न मानने का अर्थ क्या होगा कि व्यावहारिक जीवन में अपना कोई संकल्प न रहे, अपना कोई सुख न रहे। हम सब प्रकार से प्रभु के होकर रहें; तो जिनके होकर रहते हैं, बस उनकी कृपा का ही आश्रय हो और उनके मंगलमय विधान से ही जो हो, सो हो। वो जहाँ रखेंगे, वहाँ रहेंगे, जो खिलायेंगे सो खायेंगे, जो करायेंगे सो करेंगे। तो ऐसा कौन कर सकता है ? ऐसा वो ही कर सकता है जिसमें सचमुच अपनी कोई कामना, वासना शेष नहीं है। बड़ा प्यारा लगता है वह आदमी भगवान को-ऐसा मैंने सुना है।

जिसने परमात्मा की प्रियता के लिए उनके आश्रित होकर रहने में, देखे हुए संसार की चमक-दमक को छोड़ दिया, उस पर परमात्मा बहुत प्रसन्न हो जाते हैं और उस आनन्द स्वरूप में आनन्द की लहरियाँ उठती हैं, तो उस साधक के जीवन को ऐसे भरपूर बनाती हैं कि वह सब प्रकार की अतृप्ति और अभाव को मिटाकर एकदम आनन्द स्वरूप ही हो जाता है। जिस मनुष्य ने देखे हुए सुहावने-लुभावने संसार की ओर से अपने को हटाया कि नहीं-नहीं, मुझे यह नहीं चाहिए, मुझे तो उस प्यारे प्रभु की प्रसन्नता में प्रसन्न रहना है, वो कहता है कि हे प्यारे! आपकी जिसमें प्रसन्नता हो सो करो मेरे साथ। तो परमात्मा कहते हैं कि हे भक्त ! तेरी प्रसन्नता जिसमें होगी, सो सब करूँगा मैं तेरे साथ।

स्वामीजी महाराज प्रिया-प्रियतम के लीला-विहार की चर्चा करते हुए कभी-कभी सुनाया करते थे "जोई-जोई प्यारो करे, सोई सोई मोंहि भावे, जोई जोई मोंही भावे, सोई- सोई प्यारों करे।" प्रेमी

कहता है कि-प्यारे जो करते हैं, उसी में मुझको आनन्द आता है, वही मुझको अच्छा लगता हैं इतना ही नहीं। 'जोई- जोई मोंही भावे, सोई सोई प्यारों करे'। जो- जो मुझे प्रिय लगता है, वही- वही प्यारे करते हैं सब प्रकारसे उनके होकर रहने का पुरुषार्थ किया भक्त ने, तो उसके प्यारे जो करते हैं उसी में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। क्यों? क्योंकि भक्त का अपना कोई संकल्प नहीं है, भक्त की अपनी कोई इच्छा नहीं है, उसका अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। क्योंकि उसने सर्व-उत्पत्ति के आधार, जीवन के मूल स्रोत पर ही अपने सीमित अहम् को न्यौछावर कर दिया। तो अब उसको जो अच्छा लगता है वही भगवान करते हैं क्योंकि उसी में उनको प्रसन्नता है। वे तो आप्तकाम हैं। वे तो सत्य संकल्प हैं। वे तो सब प्रकार से पूर्ण हैं। उनको अपने लिए तो कुछ चाहिए ही नहीं।

कामनाएँ लेकर हम संसार में रहते हैं, तो उन्होंने सृष्टि के संचालन का एक मंगलकारी विधान बना दिया। हमारी किसी-किसी कामना को तो पूरा कर दिया, और किसी-किसी को पूरा नहीं किया और पूर्ति-अपूर्ति से सुख-दुःख का चित्र दिखाया। लेकिन जिसने प्रभु-प्रेम से प्रेरित होकर और अन्य किसी भी तरह से अपना परित्राण न देखकर उन महामहिम की महिमा को स्वीकार कर अपने को सब प्रकार से उन पर आश्रित कर दिया ऐसा भक्त भगवान को अत्यन्त प्रिय लगता है। भगवान उसकी प्रसन्नता के लिए, सब लीलाएँ करना शुरू कर देते हैं। तो यह अपने-पन का भाव जो है, परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है। अपने-पन का भाव कहाँ से आयेगा ? मनुष्य की ओर से आयेगा। मनुष्य ने संसार में रहकर संसार को देखा। संसार की सुन्दरता, वैभव और विपन्नता को देखा। इसके अनेकों रूप अपनी आँखों देख लेने के बाद उस स्वयं प्रकाश के दिये हुए प्रकाश में, विवेक के द्वारा उसने जाना कि सचमुच कभी सुन्दर और कभी असुन्दर, कभी वैभव, कभी विपन्नता, कभी आपत्ति-विपत्ति ये जितने

रूप बन रहे हैं, सब बनने बिगड़ने वाले हैं और इन बनने बिगड़ने बालों के भीतर जो सत्ता रूप से विद्यमान है, वही सदा-सदा के लिए रहने वाला है। इस प्रकार के विचारों से, सन्तों की वाणी से सुनकर, ग्रन्थों के वाक्यों के आधार पर कुछ महामानव ऐसे हुए कि जिन्होंने सब कुछ उनके अर्पित करके, अपने को उनकी कृपा के भरोसे छोड़ दिया कि तुम्हें जैसे अच्छा लगे, जिसमें तुम्हारी प्रसन्नता हो सो करो। तो यह है सब प्रकार से अपने को उन पर अर्पित कर देना। मनुष्य के हृदय का यह अपना-पन पवित्र हो जाता है। क्योंकि इस अपने-पन के पीछे कोई कामना नहीं है, कोई उद्देश्य नहीं है। केवल प्रेम का नाता है और जब वह उनकी प्रसन्नता के लिए ही अपने को छोड़ देता है तो प्रभु को इतना प्यारा लगता है, कि वे अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं।

एक दिन स्वामीजी महाराज कह रहे थे कि उनको तुम कृपा सिन्धु पतित पावन अथवा जगत्पति कहो तो उनको इतना अच्छा नहीं लगता है, क्यों ? क्योंकि जिसकी शक्ति की कोई सीमा ही नहीं है, उसको तुम शक्तिमान कहोगे तो उससे उसको कोई खुशी नहीं होती। उनके गुणों का गान इस तरह से तरह-तरह के नाम लेकर करो तो उन्हें उसमें इतनी प्रसन्नता नहीं होती, लेकिन जब तुम उनके साथ अपनेपन का सम्बन्ध बनाते हो तो यह आत्मीयता उनको बहुत प्यारी लगती है। ऐसे अनुरागी भक्त को वे इतना अधिक प्यार करते हैं कि अपना सारा वैभव भी उस पर लुटा दें। इतने से भी सन्तोष नहीं होता तो फिर अपने को ही उस पर न्यौछावर करते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण हम लोगों ने सुने हैं। मनुष्य के साथ अपनेपन के सम्बन्ध को कितना आदर दिया है उन्होंने। कितनी तरह से अपना मानने वाले, अपने आश्रित होने वाले भक्तों को रिझाया है।

एक लीला मैंने देखी थी एक बार। बहुत पुरानी बात हैं एक

भक्त था, जाति का कुम्हार। बहुत प्रेमी था भगवान का। भगवान के प्रेम की बाढ़ भक्त के हृदय में आती है तो किसी भी प्रकार की वासना शेष नहीं रहती। मनोविज्ञान में हमने यह पढ़ा कि मनुष्य के जीवन में नीरसता सताती है तो उसके भीतर काम वासना का उद्वेग होता है। व्यक्ति के भीतर जितनी नीरसता होती है, उतनी उसमें वासना उग्र होती है। इसके विपरीत जिनका सम्बन्ध प्रभु से हो जाता है और जिनके भीतर उनकी प्रीति का रस आने लगता है, उनके भीतर सब वासनाएँ अपने आप गायब होने लग जाती हैं। फिर वासना उनमें जगती ही नहीं है, काम उनमें रहता ही नहीं है।

तो उस कुम्हार के जीवन में जब प्रभु का प्रेम बढ़ने लगा तो उससे उसका हृदय पवित्र होने लगा, उस पवित्रता से उसमें अपने-पराए का भेद मिटने लगा। ऐसा होते होते एक दिन प्रभु के प्रेम में मगन होकर कीर्तन कर रहा था कि इतने में उसकी स्त्री किसी जरूरी काम से उसके पास आई। उसको देखकर वह कहने लगा कि देखो, अब तुम हमको छूना मत। अब हम लोग स्त्री पुरुष नहीं है, अब तो हम भगवान के हैं। इस तरह से स्त्री पुरुष का सम्बन्ध भी उसके भीतर से निकल गया और पवित्र भाव से भगवान की भक्ति में अधिकाधिक रमने लगा।

एक दिन वह भक्त अपनी मस्ती में भगवान के गुण गा रहा था। कि इतने में उसकी स्त्री बिगड़ती हुई आई। उसने क्रोध में उसके दोनों हाथ पकड़ उसे हिला दिया कि यही सब करते रहोगे या घर की भी कुछ सुध लोगे ? उसके छू देने पर वह चौंक उठा। सामने अपनी स्त्री को देखकर बोला कि मैंने तो तुमसे कहा था कि अब हम भगवान के बालक हैं, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध नहीं रहा। अब तुमने छू दिया तो बड़ी मुश्किल हो गई और उस भक्त ने अपने हाथ कटवा दिये। फिर अपने भजन में मस्त रहने लगा। हाथ कट गए तो अब बर्तन कैसे बने ? घर में गाँव में तकलीफ होने लगी। जब बाल

बच्चे भूखे मरने लगे तो भगवान से कैसे देखा जाए। वे आए कुम्हार बन कर, फटे-पुराने मैले कपड़े की पगड़ी सिर पर बाँधकर साथ में बोझ ढोने के लिए गधा लेकर आए और कहने लगे कि भाई, मेरे देश में अकाल पड़ा है। मैं बर्तन बनाना जानता हूँ हमको कोई नौकर रखले। गाँव के लोगों ने सुना और कुम्हार के घर का रास्ता बता दिया। उसके पास आकर वही सब दोहरा दिया कि भाई अकाल के कारण कमाई करने को निकला हूँ, तुम मुझे नौकर रख लो। कुम्हार आनन्दित हो गया।

भगवान का प्रेमी जो है उसे रोटी सूझती है पीछे और भजन सूझता है पहले। तो वह कहने लगा कि अच्छा भैया, ठीक है तुम गधे को हमारे दरवाजे पर बाँध दो और आओ जरा पहले भगवान का भजन कर लें, फिर काम शुरू करेंगे। ज्योंही उसने अपने कटे हाथों से उनका आलिंगन किया कि उसको तो एकदम रोमांच हो आया। वह तो आनन्द से भर गया। चौंककर खड़ा हो गया और कहने लगा कि भैया तुम कौन हो ? तुम्हारे स्पर्श मात्र से हमको इतना आनन्द आया है सच बताओ तुम कौन हो ? तो भगवान बोले कि भैया में तो तुम्हारी ही जाति का हूँ।

इस बात की ओर स्वामीजी महाराज ने मेरा ध्यान दिलाया कि भगवान ने कहा कि मैं तुम्हारी ही जाति का हूँ। मैं सच कहता हूँ कि मैं कुम्हार हूँ। और मैं कुछ नहीं जानता भैया, मैं केवल मिट्टी का बर्तन बनाना जानता हूँ।

जिसके संकल्पमात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की रचना हो जाती है उनको मिट्टी के बर्तन बनाने में क्या देर लगती। लेकिन वे तो अपने भक्त की खुशी से खुश थे। भक्त पाँव से मिट्टी गूँधता और वे बर्तन गढ़ देते। जब काम हो जाता तो उसके बाद उसके भजन में, उसके आनन्द में मस्त रहते। जब वह थक जाता तो खूब प्यार करते उसको, सिर सहलाते, पीठ सहलाते। जब वह लेट

जाता तो इतने प्यार से उसके चरण दबाते-दबाते उसको आराम कराते कि मैं क्या बताऊँ ? कहने सुनने के लायक कुछ नहीं है। जिससे ऐसा प्यार किया और जिसने ऐसा प्यार पाया, उसको क्या अनुभव होगा, सो तो हम अनुमान ही कर सकते हैं अनुभव तो उन्हीं के पास है।

तो यह बात इस सत्य को प्रकाशित करने के लिए है कि जो सब प्रकार से उनका होकर रहना पसन्द करता है, प्रभु सब प्रकार से सचमुच उस भक्त के ही हो जाते हैं। उसकी चाकरी भी करते हैं, सेवा भी करते हैं, उसको आराम भी दिलाते हैं और उसके चरण भी दबाते हैं, उसको हर प्रकार से प्रसन्न करने की बात रहती है उधर से। और हमारी भावना जो है कि मैं सब प्रकार से प्रभु का होकर रहूँ- यह भावना तो दुर्बल होगी और बहुत सीमित होगी लेकिन केवल अभिलाषा मात्र परमात्मा को इतनी प्रिय लगती है कि वह साधक के भीतर की दुर्बल अभिलाषा को अपनी प्रियता देकर, खूब पोषित पक्का कर देते हैं। यह अपने लिए बहुत बढ़िया बात है। अगर मुझको ही अपनी सफाई करनी पड़ती तो क्या जाने हम कर पाते कि नहीं कर पाते ? लेकिन हमारी दुर्बल अभिलाषा को वे अपनी प्रियता का रस देकर पूरा कर देते हैं और भक्त जब सब प्रकार से भरपूर होकर कह देता है कि हे प्रभु ! तुम्हारी प्रसन्नता जिसमें हो, तुम्हें जो अच्छा लगे सो करो। तो वे भी आनन्दित होकर कहते हैं कि अब तुम जो कहो सो मैं करूँ। बड़ा आनन्द आता है एक दूसरे को। स्वामीजी महाराज तो अपने अनुभव की ही बात कहते होंगे लेकिन अपने को कभी प्रकट नहीं करते थे। इतना ही कहते कि कुछ नहीं पता चलता है कि कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद है। प्रेमी कहता है तुम मेरे प्रेमास्पद, तो प्रभु भक्त को कहते हैं तू मेरा प्रेमास्पद। तो भक्त कभी प्रेमी और प्रभु प्रेमास्पद बनते हैं तो कभी प्रभु प्रेमी और भक्त प्रेमास्पद बनता है और भक्त

की जो अपनी भावना है, वह तो प्रेम स्वरूप होकर उन्हीं में मिल जाती है। फिर तो दोनों को एक दूसरे की पहचान ही नहीं रहती। वह कहेगा हम तेरे तो वे कहेंगे हम तेरे।

जनकपुर में विदाई से पहले जब बहुत बातें हो रही थीं सखियाँ बैठी थीं और सब अधीर हो रही थीं। हे लालन, आप चले जायेंगे तो हम देखे बिना कैसे रहेंगे ? उस समय श्री किशोरीजी की बारह बहिनें थी, अपनी और चचेरी, और सखियाँ भी बहुत-सी थीं। उन सब प्रेमीजनों को इस बात का पता था कि ये मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। एक छोड़कर दूसरा विवाह नहीं हो सकता। विवाह करने की तो कोई बात ही नहीं थी। फिर भी वे अत्यन्त अधीर होकर कहती हैं कि हे लालन, आप चले जायेंगे तो हम देखे बिना कैसे रहेंगी। हम तो किशोरीजी को छोड़कर रह ही नहीं सकेंगी, इसलिए हम आपके साथ जायेंगी और आपके महल के पीछे फूँस की कुटिया बनायेंगी और लाड़िली लाल के दर्शन से हम जीवन बिताएँगी। हमें कोई सुख नहीं चाहिए, कोई सम्मान नहीं चाहिए। किसी प्रकार से हम लोगों को आप केवल अपने दर्शन से आनन्दित होने का अवसर दे दीजिए। जब उन्होंने उनकी प्रियता के लिए सब प्रकार से अपने को उनकी प्रसन्नता पर छोड़ दिया और केवल उनके प्रिय दर्शन से ही सन्तुष्ट रहकर, सब असुविधा, सब दुःख सहन करने को अपने को तैयार कर लिया तो बहुत ही प्रेम भरे हृदय से कहते हैं कि हे सखियों ! मैं सब प्रकार से आपका ही हूँ, मैं आपका ही होकर रहूँगा। आपने जो किया सो किसी ने नहीं किया। क्या हो गया? और कुछ नहीं हुआ, प्रेमी जनों ने प्रेम का नाता निभाने के लिए संसार के वैभव को ठुकरा दिया तो संसार के सृष्टिकर्ता होने से अनन्त ऐश्वर्यवान ने अपने सारे ऐश्वर्य को भुलाकर उन प्रेमी जनों पर अपने को न्यौछावर कर दिया। वो कहती हैं कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकतीं। सब प्रकारसे हम तुम्हारी हैं अपनी शरण में रख

लो। और ये कहते हैं कि हे सखियो ! आपने जो किया सो किसी ने नहीं किया। सब प्रकारसे मैं आपका ही हूँ। आपका ही होकर रहूँगा और मैंने ऐसा सुना है कि कुछ प्रियजनों के लिए सचमुच वे कभी मिथिलापुरी से गये नहीं। उस भाव के जो भक्त हैं वहाँ के वे यही भाव मानते हैं कि ये नित्य किशोर-किशोरी सदैव इसी पुरी में रहते हैं और बहुतों को प्रातःकाल जैसा उनका भाव है, जैसी उनकी सेवा है, नित्य किशोर-किशोरी के दर्शन वहाँ मिथलापुरी में होते ही रहते हैं।

तो जिस मनुष्य ने मरणशील शरीर को लेकर, उस अजन्मा अविनाशी को प्यार करना पसन्द किया, उसका देह-धर्म छूट गया। वह मृत्यु पर विजयी हो गया। मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकती, और इस धरातल पर दो पाँव से विचरण करता हुआ जीव, प्रभु के प्रेम का प्रतीक होकर, स्वयं आनन्दित रहता है और उस आनन्द स्वरूप को आनन्दित करता है। तो जिस साधक के भीतर की यह अभिलाषा है कि मैं सब प्रकार से उनका होकर रहूँ वह साधक धन्य है। वह घड़ी धन्य है, जब उसके हृदय में यह अभिलाषा पैदा हुई और वे प्रभु धन्य हैं जो दीन से दीन, हीन से हीन, तुच्छ से तुच्छ साधक के हृदय की इस अभिलाषा की पूर्ति में अपने आप को न्यौछावर करते हैं।

मानव सेवा संघ और क्रियात्मक साधना

उपासना का अर्थ है ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति। स्तुति का अर्थ है ईश्वर की सत्ता और महत्ता को स्वीकार करना।

प्रार्थना का अर्थ है उनकी कृपा की आवश्यकता अनुभव करना।

साधना का अर्थ है, बुराई रहित होना। भजन का अर्थ है-प्रभु की स्मृति का जाग्रत होना। पूजन का अर्थ है, सर्व हितकारी कार्य

प्रभु की प्रसन्नता के लिए करना। यह सब स्वधर्म है। शरीर धर्म नहीं। अन्य आशा, अन्य विश्वास, अन्य भरोसा और अन्य सम्बन्ध जीवन में से निकालकर एक ईश्वर विश्वास एवं सम्बन्ध पर सम्पूर्ण जीवन को आधारित करना ईश्वर के नाते से सर्व हितकारी कार्य द्वारा, सेवा के रूप में प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा-भाव से करना अपने सहित अपना सब कुछ प्रभु के समर्पित कर उनके शरणागत होना प्रवृत्ति में सेवा और निवृत्ति में समर्पण योग-यह मानव सेवा संघ के अनुसार भक्ति-पंथ की साधना है। यह मानव जीवन में प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति का मूल मंत्र है। इसको अपनाये बिना किसी भी देश, युग, मजहब, सम्प्रदाय का साधक क्यों न हो, भक्ति-पंथ में सफलता पा नहीं सकता। अतः मानव सेवा संघ के प्रणेता सन्त ने सभी के लिए भक्ति-पंथ में सफलता पाने के लिए अकाट्य एवं अनिवार्य तत्त्वों को हमारे सामने रख दिया। किसी भी साधक को इन अनिवार्य तत्त्वों को अपनाकर भगवत-प्रेम से परिपूर्ण होने में न असमर्थता है न पराधीनता है। संघ के द्वारा उन्हीं मूलभूत साधनों का प्रतिपादन किया गया है जो प्रत्येक युग, वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय एवं मजहब के साधकों के लिए अनिवार्य है तथा प्रत्येक साधक, प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनता पूर्वक उन्हें अपनाकर सिद्ध हो सकता है। जैसे, जीवन के सत्य को स्वीकार करना, जाने हुए असत् के संग का त्याग करना, निज विवेक का आदर करना, प्राप्त बल का सदुपयोग करना, प्रभु विश्वास में विकल्प न करना, आत्म निरीक्षण करना, व्यक्तिगत सत्संग करना सही प्रवृत्ति एवं सहज निवृत्ति को अपनाना, मूक सत्संग एवं समर्पण योग में रहना, सुख-दुःख को साधन सामग्री मानना, इन्हें जीवन नहीं मानना, सुख में सेवा तथा दुःख में त्याग को अपनाना, सुख-दुःख से अतीत के जीवन में चिरशान्ति पाना, कर्त्तव्यनिष्ठ होना। अचाह, अकिंचन एवं अप्रयत्न होकर भौतिकवादी-विश्व प्रेम से, अध्यात्मवादी नित्य जीवन से तथा ईश्वरवादी प्रभु-प्रेम से अभिन्न होगा। अतः सेवा, त्याग और

प्रेम को मानव-जीवन का सुन्दरतम चित्र बताया गया। अचाह, अकिंचन एवं अप्रयत्न हुए बिना किसी भी साधक के लिए सिद्धि संभव नहीं। अचाह, अकिंचन एवं अप्रयत्न होना स्वधर्म है इसमें किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है।

संसार की निन्दा करते हैं, परन्तु छोड़ते नहीं हैं, भगवान की बहुत स्तुति करते हैं परन्तु उनको पसन्द नहीं करते। जो अनुभव-सिद्ध है उसके लिए प्रमाण नहीं चाहिए। जो श्रद्धा से साध्य है उसमें विकल्प नहीं करना चाहिए। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि पराश्रय में जीवन नहीं है और यह श्रद्धा की बात है कि जीवन अपने में है। अनुभव से लाभ उठाओ। क्या करो ? पराश्रय से सुख मत लो, नहीं तो दुःख नहीं जायेगा। सुख की वासना से जन्म होगा और दुःख भोगना पड़ेगा। सत्ता रूप में सत्ता है परमात्मा की उसमें कल्पित हूँ मैं और जगत्। जो कल्पित है उसे चाहिए कि परमात्मा की सत्ता में आस्था कर ले। कल्पित को कल्पित में आस्था करनी नहीं चाहिए, सेवा करनी चाहिए। जगत् को अपना मानने से जगत् मिल नहीं जाता और परमात्मा को नहीं मानने से परमात्मा अलग नहीं हो जाता। अतः परमात्मा में आत्मीय सम्बन्ध मानने से परमात्मा मिल जाते हैं और जगत् को अपना न मानने से जगत् छूट जाता है।

(69)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार योग परमात्मा की सामर्थ्य है, ज्ञान उनका स्वरूप है और प्रेम उनका स्वभाव है। तो स्वभाव, स्वरूप और सामर्थ्य- यह सब बहुत प्रकार के शब्दों का प्रयोग न करके हम लोग केवल एक ही बात कह सकते हैं कि ये सब उनकी विभूतियाँ हैं और ईश्वर की विभूतियाँ ईश्वर के समान ही अनन्त हैं। अब स्वामीजी महाराज ने अपनी खोज के आधार पर

हम लोगों के विकास की जो चरम सीमा बताई है, वह है अनन्त की विभूतियों के समान अनन्त हो जाना। जीव कभी ब्रह्म हो जायेगा, ऐसा स्वामीजी महाराज ने नहीं कहा है और लोग क्या कहते होंगे उसका मुझको पता नहीं है।

बम्बई में एक बार एक बड़े सन्त से बातचीत हो रही थी महाराजजी की, तो उन्होंने पूछा- "स्वामीजी महाराज ! ब्रह्म का बोध किसको होता है ? यह प्रश्न किया पूछने वाले ने, तो स्वामीजी महाराज ने बहुत प्यार-दुलार से उनको थपथपाया और कहा कि अरे यार ! ब्रह्म का बोध ब्रह्म को होता है। इसका मतलब क्या हुआ ? कि हम सब लोगों में से जो भाई बहन जिज्ञासु हैं, उनको इस बात में बहुत ही निःसंशय हो जाना चाहिए कि उनके अहम् रूपी अणु का विकास कहाँ तक होगा कि उसके सब विकार नष्ट हो जायेंगे। असत् में सद्बुद्धि करने के फलस्वरूप जो दोष पैदा हुए हैं, वे दोष मिट जायेंगे।

असत् में सद्बुद्धि-क्या मतलब है? कि दृश्य में सद्बुद्धि, शरीर में सद्बुद्धि। सद्बुद्धि का अर्थ है कि सत्य करके मानना। शरीर सत्य है, संसार सत्य है ; शरीर और संसार के संयोग से जो सुख मिलता है व सुख सत्य है- ऐसा कहकर प्रमाद काल में हम जो दृश्य में सद्बुद्धि रख रहे थे, सत्संग के प्रभाव से उसको मिटा देना अर्थात् यह सब सत्य नहीं है, स्थायी नहीं है, नित्य नहीं है, - ऐसा करके जान लेना। इस सत्संग के प्रभाव से अहम् रूपी अणु में से सब प्रकार की विकृतियों का नाश हो जाता है। शरीर को सत्य मानने से, संसार को सत्य मानने से, सुखद परिस्थितियों को सत्य मानने से, साधक के जीवन में अनेक प्रकार की विकृतियों की उत्पत्ति हो जाती है और जब सत्संग के प्रभाव से इनमें से सद्बुद्धि को छोड़ दिया जाता है, अपनी ओर से निकाल दिया जाता है, तब उसके बाद अहम् रूपी अणु में से विकृतियों का नाश हो जाता है।

जब विकृतियों का नाश हो जाता है, जब केवल शुद्ध अहम् रह जाता है , तो उस अहम् में अपने आप ही उस विचार का उदय होता है, जो उसे नित्य तत्त्व का बोध करा दे; उस अप्रत्याशित गति का आरम्भ होता है, जो अविनाशी से अविनाशी योग करा दे; उसमें उस पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति होती है जो भक्त को भगवान से मिला दे- ये सब होता है। तो भगवान से मिला दे इसका मतलब क्या होता है। इसका मतलब यह हुआ कि अहम् रूपी अणु जिस धातु से बना हुआ था उसमें ईश्वरीय प्रेम के प्रवाहित होने से उसके दोष युक्त जितने विकार पैदा हुए थे उन सबों के हट जाने के बाद वह अहम् स्वयं ही गलकर प्रेम के धातु में बदल गया तो क्या हो गया ? कि प्रेम रह गया और प्रेमी उसके बीच में से लुप्त हो गया ? कि प्रेम रह गया और प्रेमास्पद रह गया और प्रेमी उसके बीच में से लुप्त हो गया। यह अहं रूपी अणु का विश्लेषण जब होता है, तो इस तरह से उसका अन्तिम विकास माना जाता है।

महाराज जी ने कभी यह नहीं माना कि जिज्ञासा पूरी हो जायेगी तब क्या हो जायेगा? जीव जो है वह ब्रह्म हो जायेगा- नहीं, ब्रह्म नहीं हो जायेगा, अनन्त नहीं हो जायेगा, ईश्वर नहीं हो जायेगा, ईश्वर की विभूतियों से अभिन्न हो जायेगा। भक्त होकर भगवान के प्रेम से अभिन्न हो जायेगा। जिज्ञासु होकर नित्य तत्त्व के प्रकाशमय ज्ञान से अभिन्न हो जायेगा। इस प्रकार से जो ईश्वर की विभूतियाँ हैं, उन विभूतियों के रूप में हमारा आपका अहं रूपी अणु परिवर्तित होकर उसमें मिल जायेगा। ऐसा स्वामीजी महाराज ने व्यक्त किया है और मानव सेवा संघ की प्रणाली में इसे ही विकास की चरम सीमा माना गया है।

तो अब आज की अपनी दशा को सामने रखकर हम लोग देख ले किस तरह से हम मिलना चाहते हैं। स्वामीजी महाराजने जगह जगह पर ऐसे लिखाया है कि साधक की साधन-तत्त्व से अभिन्नता

होती है और साधन-तत्त्व में और साध्य में कोई भेद नहीं रहता। जब प्रेम और प्रेमास्पद- ये ही रह जाते हैं, प्रेमी कहलाने वाला लुप्त हो जाता है तो प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य विहार होता है। उसको गौरी-शंकर का विहार, सीता-राम का विहार, और राधेश्याम का विहार ऐसे कहकर महाराज ने वर्णन किया है। इन सबका अर्थ मैंने यह निकाला कि आज जो अहम् है मेरा, जिसके आधार पर मुझसे यह अभिव्यक्ति निकलती रहती है कि मैं साधक हूँ, मैं रास्तें में हूँ, मैं खोज में हूँ मैं चिन्तन में हूँ, मैं सत् चर्चा में हूँ- यह सब ध्वनि निकलती रहती है। जिसमें से यह सब ध्वनि निकल रही है, उसके विकास की अन्तिम सीमा कहाँ पर पहुँचेगी, जहाँ पर सब के साथ जुड़ा हुआ यह मैं खत्म हो जायेगा। विकास होता जायेगा, इसका प्रमाण कया है ? कि मन की बात अगर पूरी नही हुई, तो क्षोभ नहीं आयेगा। मन की बात अगर पूरी हो गई तो यह बड़े हर्ष की बात है- ऐसा नहीं मालूम होगा। क्यों ? क्योंकि अहम् रूपी अणु का विकास हो रहा है। इसका अर्थ यह है कि आप में से, मुझ में से अर्थात् अहम् रूपी अणु में से संकल्प की पूर्ति-अपूर्ति का महत्त्व खत्म हो रहा है। यह विकास तो समझ में आयेगा ना ?

जीव का इतना विकास हो गया कि वह ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न हो गया- यह बात हम लोगों की समझ में आने की नहीं है जिन महापुरुषों का यह विकास पूरा हो गया, उन महापुरूषों ने उसको अनुभव किया। हम वर्णन करें तो उस वर्णन का कोई अर्थ नहीं निकलेगा। अपनी ओर से मैं सोचती हूँ तो मुझे यह लगता है कि सत्संग के प्रभाव से अहम् रूपी अणु में परिवर्तन आया, उसमें कठोरता और विकृति का नाश हुआ और वह शुद्धता की ओर विकसित हो रहा हे- इसका प्रमाण हम लोगों के पास क्या है ? कि अगर मनचाही कोई बात पूरी हो गई और उससे हम एकदम हर्ष में भरे गये और मन की बात कोई पूरी नहीं हुई और उससे हम अत्यन्त

खिन्न हो गये तो इसका अर्थ यह है कि अभी तक मुझ पर असत् का रंग चढ़ा हुआ है। और मन की बात पूरी हो गई तो भी आपके सन्तुलन में कोई फरक नही पड़ा, तो इसका अर्थ है कि आपका विकास हो रहा है।

हमारे व्यक्तित्व की एक सहज स्थिति है। उस सहज स्थिति में संकल्प पूर्ति के हर्ष से कोई लहर पैदा न हो- उसको मनौवैज्ञानिक भाषा में equilibrium कहते हैं उस सहज स्थिति में संकल्पपूर्ति के सुख से कोई हलचल पैदा न हो, तो इसको सत्संग का प्रभाव माना जाए और मन की बात कोई पूरी नहीं हुई कोई बहुत बड़ी घटना हो गई, उस परिस्थिति में भी हमारा सन्तुलन बना रहे, हमारी सहज स्थिति बनी रहे, तो हम कहेंगे कि अहम् रूपी अणु में इतना विकास हो रहा है कि वह बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से क्षुब्ध नहीं हो रहा है। स्थिरता की ओर जा रहा है, योगवित् होने की तरफ उसकी गति हो गई, ऐसा हम लोगों को जानना चाहिए और मानना चाहिए।

ऐसे अवसर आते हैं जीवन में कि अधिक से अधिक संकल्पों की पूर्ति का सामान अपने पास जुड़ा हुआ हो, ऐसी परिस्थिति में दस बात आपके मन के अनुकूल हो गई, एक अगर प्रतिकूल हो गई, तो धरती, आसमान में आग लग जाती - यह क्या हो गया भाई ? एक सैकिण्ड के लिए कहीं ठहराव नहीं दिखाई देता। उथल-पुथल, रोना-गाना, चिल्लाना, धूम मचाना, आपे से बाहर हो जाना और वायुमण्डल में एकदम हिन्द महासागर की लहर उठा देना- यह मैंने देखा है। यह साधक की दशा नहीं है। बेचारे जिन भाई-बहिनों के जीवन में संकल्पपूर्ति की ज्यादा सुविधा नहीं है, वे उतना आपे से बाहर नही होते है। लेकिन जिनको आशा रहती है, जिनको इस प्रकार का एक आभास रहता है कि मैं कोई खास आदमी हूँ मेरी हर बात मानी ही जानी चाहिए, मेरा हर हुकुम पूरा होना ही चाहिए, इस तरह की उनकी जो दशा होती है, उसे मैं कहूँगी कि अहम् रूपी

अणु की वो विकृत दशा है। मन की बात पूरी नहीं हुई तो उसमें equilibrium disturb हो गया, व्यक्तित्व की सहज स्थिति में संक्षोभ पैदा हो गया। मनो विज्ञान में दोनों ही बातों को संक्षोभ कहा जाता है- हर्ष के मारे हलचल पैदा हो गई एक दम उसको भी संक्षोभ कहा जाता है और संकल्प पूरा नहीं हुआ तो भीतर से क्रोध आ गया, बेचैनी पैदा हो गई तो उसको भी संक्षोभ कहा जाता है।

प्रकृति का विधान है कि आपने संकल्प पूरा करके भी संकल्प पूर्ति के सुख का राग नहीं छोड़ा तो प्रकृति आपके हित-चिन्तन से प्रेरित होकर आपके संकल्प पूर्ति के संयोग में बाधा खड़ी करेगी। अब अपूर्ति-काल में साधक का काम क्या है ? कि अपूर्ति-काल को देखे तो हर्षित हो जाए, कि अच्छा, यह मंगलकारी प्रभु का मंगलकारी विधान है। संकल्प पूरा करते-करते हमने अपने राग को नहीं छोड़ा तो हितकारी प्रकृति ने अब संकल्प की अपूर्ति-काल का समय ला दिया है। तो अब क्या करना चाहिए ? अपूर्ति में क्षुब्ध न होकर के शान्त रहते हुए संकल्प की निवृत्ति की तैयारी कर लेनी चाहिए। बस छुट्टी मिल जायेगी सब तरफ से। ऐसा हो जायेगा, सहज से हो जायेगा। तो मैं कहती हूँ कि भगवान का दर्शन मुझे हो गया और भगवान से मेरी बातचीत हो गई और अब तो हम सन्त कबीर की भाँति भगवान के प्रेम में भुला गये हैं। अब तो भगवान ही मेरी care करने के लिए, मेरी रक्षा करने के लिए मेरे पीछे-पीछे फिरते हैं- यह बात कहने की घड़ी कब आयेगी वो तो भगवान जाने। लेकिन सत्संग में बैठने का, सत् चर्चा करने का, सन्त की शरण में आने का कम से कम तात्कालिक प्रभाव तो इतना होना चाहिए कि हम लोग अपने आसपास के वातावरण में घटित होने वाली घटनाओं से अपने में संक्षोभ न पैदा होने दे। तो क्या होगा ? अगर ऐसा होता है, तो हमें कहना चाहिए कि अहम् रूपी अणु का विकास हो रहा है। किस ओर विकास हो रहा है? भोग के नाशकारी मार्ग से हटकर योगवित्

होने की ओर विकास हो रहा है। मनचाही बातों के न होने पर जो शान्त रह सकता है, उसमें योगवित् होने की सामर्थ्य आ जाती है। बाहर की उथल पुथल से जो व्यक्ति अपनी सहज स्थिति से डोलता नहीं, उसमें शान्त, स्थिर स्थित रह सकता है, उसमें शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ सकती है। और थोड़े-थोड़े मान अपमान के प्रभाव पर हम बिक जाते हैं जरा सा किसी ने मेरे खिलाफ कह दिया तो उसकी जड़ काटने के लिए कटिबद्ध हो गये। थोड़ा सा मुझको खुश करने के लायक कोई बात कह दिया तो उस पर लट्टू हो गये। उसकी खातिरदारी करने में अपना नियम, संयम, मर्यादा सब भूल जायेंगे। इस तरह की दशा जो है हमारी यह क्या प्रमाणित करता हैं ? कि मुझ पर इस दृश्य जगत् का बहुत गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

सत्संग में हम सब लोग आये है और साधन के पथ पर अपनी दुर्बलताओं से संघर्ष करते हुए Struggle करते हुए आगे बढ़ने की चेष्टा में लगे हैं तो हम सब लोगों के लिए करणीय क्या है ? विचारणीय क्या है ? करणीय-विचारणीय यह है कि भाई आज, यदि मैंने यह पाठ लिया कि शरीर और संसार का प्रभाव मुझ पर नहीं रहना चाहिए तो क्या होना चाहिए अगर इसके प्रभाव से हम प्रभावित नहीं होंगे, तो साधन-सामग्री के रूप में इसका उपयोग कर सकेंगे और प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं, तब क्या होता है ? तब उपयोग नहीं कर सकते हैं तब वस्तुओं का संग्रह होने लगता है। तब शरीर की पूजा होने लगती है।

हम सब भाई, बहनों को जिन्होंने सत्संग को जीवन में महत्त्व दिया है, उसको प्रधानता दी है, उनको इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सत्य के संग का प्रभाव जोरदार है,या देह के संग का, या फिर धन के संग का प्रभाव जोरदार है। यदि सचमुच इस दिशा में हम लोग आगे बढ़ते हैं, तो मैं कहती हूँ कि अहं रूपी अणु का

सत्य की ओर विकास हो रहा है। परमात्मा के प्रेम के रूप में बदलने जा रहा है। इस दिशा में हमारी कितनी प्रगति हो रही है? यह सब अपने को देखना चाहिए। समाधि लग गई कि नहीं और दृष्टि, दृश्य और द्रष्टा की त्रिपुटी का नाश हुआ कि नहीं यह तो दूर की बात है। अभी अभी की, तत्काल की बात देखें हम लोग, कि खाना ज्यादा प्रिय लग रहा है, या सोना ज्यादा प्रिय लग रहा है। परपीड़ा में शामिल होना ज्यादा अच्छा लग रहा है, या अपने संकल्प-पूर्ति के सुख को छोड़कर अन्य के हितकारी संकल्प की पूर्ति में भाग लेना ज्यादा अच्छा लग रहा है। इससे यह पता चल जायेगा कि सचमुच हम लोग उत्थान की ओर जा रहे है या जहाँ के तहाँ अटके हुए हैं।

अपने अहम् रूपी अणु के विकास के सम्बन्ध में हम लोगों को बहुत जागरूक रहना चाहिए। रात्रि का समय हो चाहे प्रातःकाल का समय हो, चाहे आधी रात के समय नींद खुल जाए, तब जो भी कुछ समय अपने पास एकान्त में शान्ति में मिल जाए उस शान्त एकान्त की घड़ी में देखना चाहिए कि हम किस तरफ जा रहे हैं। तो इससे आपको बहुत बल मिलेगा, रास्ता मिलेगा।

ईश्वर-विश्वासी साधक को जीवन में अपना कोई संकल्प इतना जबरदस्त पकड़ करके रखना ठीक नहीं है। क्या जाने विधान की दृष्टि से मेरे लिए क्या हितकारी है। अगर कोई बात मेरे जानते बहुत जरूरी लग रही है और नहीं पूरी हो रही है। तो सावधानी तो मुझे अवश्य रखनी है, लेकिन उसका क्या परिणाम हो रहा है, उसमें बहुत सन्तुलित रहना चाहिए। यह तो सभी लोग चाहते हैं, सभी महापुरुषों ने बताया है कि भाई ! करने में अपना अधिकार है और सफलता भगवान के हाथ है। तो क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा है- इन बातों से अपने को उलझना नहीं चाहिए। और मैं देखती हूँ कि जब प्राकृतिक विधान पर दृष्टि चली जाती है, प्रभु के सर्वहितकारी विधान पर दृष्टि चली जाती है तो भीतर बहुत शान्ति रहती है।

मैंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अपना विश्लेषण करके देखा है, जो कि सार्वजनिक सत्य है कि यदि आप होने वाली घटनाओं को महत्त्व नहीं देते है, अपनी सहज स्थिति में शान्त होकर रह सकते हैं, तो आपके विचार इतने स्पष्ट हो जाते हैं कि किसी के साथ किसी प्रकार का व्यवहार करने में आप प्रेम और सावधानी के खिलाफ नहीं कर सकते। प्रियता भी बनी रहेगी, सावधानी भी बनी रहेगी, कोई गड़बड़ी नहीं हो सकती है। और व्यक्ति संकल्प-अपूर्ति से क्षुब्ध हो जाए कि मेरे को कोई चीज ही नहीं समझता, मेरा कोई स्थान ही नहीं है, मेरा कोई महत्त्व ही नहीं है, मुझको कोई कुछ गिनता ही नहीं है। हम तो इतना करके छोड़ेंगे, हम तो इतना करके ही रहेंगे- इस प्रकार की बात अगर आ जाती है। तो Mind इतना Confuse हो जाता है बुद्धि इतनी सीमित हो जाती है कुण्ठित हो जाती है कि एक गलती के प्रभाव से जो एक संकट आया था। उस संकट से अस्त व्यस्त हो जाने के कारण हजार संकट आदमी मोल ले लेता है। यह दशा हो जाती है। तो सत्संग का प्रभाव अचूक है, जिस किसी ने किया वह अवश्य ही सफल हुआ।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है। एक बार किसी ने परम प्रेमास्पद से आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार किया तो वह सम्बन्ध उसको परम प्रेमास्पद के प्रेम में मिला करके ही खत्म होगा। बीच में कहीं वह छोड़ेगा नहीं आपका साथ। कभी नहीं। तो एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है। कितना अच्छा होता कि हम सब लोग अपनी वर्तमान दशा में जहाँ हैं वहीं से आगे कदम बढ़ाने के लिए किसी भी रूप में किसी एक सत्य को स्वीकार कर लेते तो अभी से इसी क्षण से हमारी आपकी प्रगति आरम्भ हो जाती। घटनाओं का प्रभाव, परिस्थितियों का प्रभाव, इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति का प्रभाव, तो तत्काल ही खत्म हो जाना चाहिए। हर प्रकार

से अचाह और अकिंचन हम हो गए कि नहीं इसका विश्लेषण जरूरी नहीं है लेकिन होने वाली घटनाओं को, आने जाने वाले दृश्यों को निस्सार जानना- यह बहुत जरूरी है। उसकी निस्सारता से ही अपने में यह बल आता है कि उसके बनने-बिगड़ने की परवाह नहीं करते।

स्वामीजी महाराज ने एक घटना सुनाई थी हम लोगों को, एनीबेसैन्ट के आश्रम की घटना, कि आग लग गई और करीब सवा लाख डेढ़ लाख की सम्पत्ति जल गई। तो सब लोग, आश्रम वासी लोग घबड़ा गये। माताजी अब क्या होगा ? अब क्या होगा ? माताजी चुपचाप गंभीर, देख रही हैं दृश्य सब। कई घण्टों के बाद दो चार दिन तो नहीं बीते, दो चार घण्टे बीते होंगे, कोई व्यक्ति आया और तीन लाख की सम्पत्ति खर्च करने के लिए माताजी से कहने लगा कि अच्छे काम में यह धन लगा दीजिये। देने वाला तो चला गया। माताजी अकेले में उमड़े हुए हृदय से परमात्मा से कहने लगी। कि अरे भाई ! इतनी जल्दी क्याथी ? इतनी जल्दी आपने क्यों भेज दिया? थोड़ा ठहरते, हमारी क्या दशा हो रही है उसको जरा हम और देखते।

ईश्वर विश्वासी निःस्पृह सेवा भावी होते हैं। वे इस प्रकार की प्रतिकूल घटनाओं में भी विचलित नहीं होते कि हाय ! अब क्या होगा? अरे अब क्या होगा ? अगर मैंने अपना अहम् जोड़ा होगा सेवा कार्य के साथ, संस्था के साथ, आश्रम के साथ अपना अहम् लगाया होगा कि मेरे करने से चल रहा है मेरे सँभालने से सँभल रहा है तो कोई प्रतिकूलता आयेगी, घाटा लगेगा तो हमारे होशहवास गुम हो जायेंगे। मैंने अपने को परमात्मा का सेवक माना होगा। मालिक की दी हुई सम्पत्ति का साधन दृष्टि से उपयोग करना है मुझे ऐसा अपने को माना होगा, तो वे आर्थिक क्षति से अनजान हैं ? मालिक क्या उस क्षति की पूर्ति में असमर्थ हैं ? जी-नहीं हैं मालिक

अनजान भी नहीं है और असमर्थ भी नहीं है। ये बातें हम लोगों पर यह प्रकाश डालती है कि हम इतने उच्च कोटि के साधक अभी तक नहीं बन सके कि राजकुमार सिद्धार्थ की तरह एक मृतक को देखा, तो सब जीवित शरीरों में मृत्यु का दर्शन हो गया। मान लीजिए इस कोटि के साधक हम नहीं हुए तो हम जिस स्तर के हैं उस स्तर से हमारे विकास के लिए परमात्मा ने इन्तजाम कर दिया कि भाई ! प्रवृत्ति का राग नहीं छोड़ सकते तो मोह का कुटुम्ब छोड़कर भगवत् नाते आश्रम के कुटुम्ब में रहो। कमाई हुई सम्पत्ति का लोभ छोड़ दो, तो सार्वजनिक सम्पत्ति के ट्रस्टी बनकर काम करो। किसने किया यह इन्तजाम ? प्रकृति ने किया है, परमात्मा ने कियाहै। एकदम से सहारा छोड़ने का साहस तुम में नहीं है, तो व्यक्तिगत सम्पत्ति, उसका संग्रह और लोभ छोड़ दो और राग-निवृत्ति के लिए सार्वजनिक सम्पत्ति के ट्रस्टी बनकर काम करो। यह इन्तजाम हमारे उसी मालिक ने किया जिसको मेरा विकास अभीष्ट है। ऐसा जब हम करते हैं तो हानि और लाभ से व्यक्तित्व में सन्तुलन खोएगा नहीं। इतनी छोटी-छोटी बातों से अहम् रूपी अणु की विकृति का नाश होता, उसमें उदारता आती है, उसमें निर्दोषता आती है, उसमें कोमलता आती है और वो जब शुद्ध हो जाता है, बिलकुल शुद्ध हो जाताहै तो अनन्त की विभूतियों से मिलकरके अनन्त के समान अनन्त हो जाता है।

अनित्य तत्त्व भी नित्य प्रेम के धातु में बदल जाते हैं। यह इतिहास प्रसिद्ध सत्य है।

मीराजी द्वारिकाधीश में विलीन हो गई यह कलियुग के भक्त की चर्चा है इतिहास प्रसिद्ध सत्य है। ऐसे अलौकिक तत्त्व को अपने में रखते हुए भी हम संसार की ठोकरें खाते फिरते हैं, अपमान सहते फिरते हैं, दु:खी होते फिरते हैं - यह बड़े दु:ख की बात है। इसको हम सब लोग छोड़ दें और सचमुच प्रभु के प्रेम का पात्र बनना चाहते

हैं तो जहाँ हमारा कदम है जितना विकास अब तक हो चुका है, उसके आगे के लिए जो कर सकते हैं, करते जाएँ पात्रता प्राप्त होते ही उनके प्रेम की लहरियों का स्पर्श हमें अनुभव होने लगेगा और वह जब आ जाता है, उनकी स्मृति की मधुरता से जब जीवन भर जाता है तो संसार की विस्मृति अपने आप हो जाती है। फिर भक्त और भगवान मिलकर एक हो जाते हैं।

(70)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

हम लोग सत्य की चर्चा करने बैठे हैं। चर्चा चर्चा है। उसका अनुसरण जब हम करते हैं तब वह सत्संग कहलाता है। सन्तवाणी में मैंने ऐसा सुना - एक बार महाराज जी ने कहा कि एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है, बार-बार सत्संग की जरूरत नहीं पड़ती। एक बार यदि सत्य को किसी रूप में हमने स्वीकार कर लिया तो वह सदा के लिए हो जाता है। सुना है मैंने, आनन्दमयी माँ के पास भी अगर कोई साधक जाता है तो पहले वे पूछ लेती हैं कि तुमने गुरु बनाया है ? अगर वह कहे कि हाँ तो उसको यह सलाह देती हैं कि तुम्हारे गुरु ने जो बताया है उसी को करो। मैंने शबरीजी की कथा सुनी है, उनके गुरु मतंग ऋषि ने कह दिया था कि शबरीजी! मेरा तो अब शरीर छोड़ने का समय आ गया है, आप इसी आश्रम में रहियेगा, भगवान यही मिलेंगे आपको। तो बातचीत ही है न। ऐसी बातचीत कितनी बार हम लोगो ने की है। गुरु ने ऐसे कह दिया और उन्होंने पकड़ लिया, तो सारी जिन्दगी हम लोगों की तरह appointed hour नहीं पूछा कि कौन तिथि को, कौन घड़ी में कितने बजकर कितने मिनट पर आयेंगे सो नहीं पूछा। केवल सुन लिया कि गुरु ने कहा है कि आप यही रहियेगा। इसी आश्रम में भगवान यहीं मिलेंगे आपको। तो प्रभु आ रहे है, प्रभु आ

रहे हैं, ऐसी अखण्ड प्रतीक्षा कि सन्ध्या समय दीपक जला के कुटिया के दरवाजे पर बैठ रही है चटाई बिछा के कलशा में जल रखकर फल दोने में भर के। तो प्रभु आ रहे हैं, अब आ रहे हैं, अब आ रहे हैं करते-करते सन्ध्या का सबेरा हो जाता है उनको पता ही नहीं चलता कि कब रात बीत गई। तो उस श्रद्धा ने गुरु के वाक्य की स्वीकृति ने उनको भगवान से मिला करके ही छोड़ा। प्रभु से मिलकर इस पार्थिव शरीर का अन्त करते ही वे अनन्त से मिलकर अनन्त हो गई। जब तक ऐसा नहीं हुआ, तब तक एक बार का सुना हुआ गुरु का वाक्य उनके साथ रहा। तो महाराज जी ने ऐसे-ऐसे अनमोल बचन हम लोगों को सुनाये, एक बार का सुना हुआ सदा के लिए हो जाता है।

अब एक और शिष्य की कथा सुनिये ! साधक थे, गुरु के पास गये। यह कल्पना नहीं है, महाराज जी की जानी हुई कथाएँ है। बहुत दिनों तक उन्होंने गुरु की सेवा की, पात्रता प्राप्त करने के लिए। पहले के लोग जाकर के गुरु से प्रश्न नहीं करते थे, उन पर दबाब नहीं डालते थे कि मुझको शिष्य बना लो। प्रतीक्षा करते रहते थे कि कब गुरु मुझे शिष्य बनाने के योग्य समझेंगे। जब दीक्षा देंगे तब मैं जाऊँगा। तो वो गुरु की सेवा में रहे, कुछ समय बीता तो गुरु ने बुलाया उनको और मन्त्र दे दिया। शिष्य की बनावट के अनुसार निराकार सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना का मन्त्र उनको दे दिया। कह दिया कि सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है। जब जाने लगे वापस तो गुरु ने फिर से बुलाया और कहा कि बेटा देखो जो गुरु का मंत्र होता है वह किसी को बताया नहीं जाता। शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। आश्चर्यचकित होकर गुरु की ओर देखने लगा, कहने लगा महाराज! आपने कहा कि सिवाय ब्रह्म के कोई और है नहीं तो मैं किससे कहूँगा ? आप मना कैसे कर रहे हैं कि किसी को कहना मत और तो कोई है ही नहीं तो मैं किससे कहूँगा ? तो कहने के लिए

कोई नहीं हैं मुझको तो किसी से नहीं कहना है। एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है और हम लोग साल में दो चार बार आयोजन जो कर रहे हैं, बैठकर सत् की चर्चा कर रहे हैं, भगवत चर्चा कर रहे हैं, यह क्या है? बार-बार कहने की और बार-बार सुनने की क्यों जरूरत पड़ रही है ? तो मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार यह जो सामूहिक रूप से बैठकर सत्य पर विचार करने की बात है यह सत्संग नहीं है, यह सत् की चर्चा है। हम लोग तैयारी कर रहे हैं, विचार को स्पष्ट कर रहे हैं, साफ कर रहे हैं। जिस दिशा में अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर सकें, उस समाधान की चर्चा कर रहे हैं। जहाँ पर अपने जीवन में साधन के जिस स्तर पर अपने में रुकावट मालूम होती है उस रुकावट का कारण खोज रहे हैं, उसके निवारण के उपाय सोच रहे हैं। यह सब साधक के जीवन के लिए आवश्यक बात तो जरूर है, परन्तु ऐसा समझना चाहिए कि अभी तक हमारी तैयारी पूरी नहीं हुई। इसीलिए बार बार कहना भी है बार-बार सुनना भी है और बार-बार विचार भी करना है। अन्यथा एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है। वह साधक का साथ छोड़ता नहीं है। उसके साधन का निर्माण जब हो जाता है, साधक अपने द्वारा किसी सत्य को स्वीकार कर लेता है तो उस स्वीकृति मात्र से साधक के स्वतः अपने ही जीवन में अपने आप उन्नति होती जाती है, उसे शान्ति मिलती जाती है और बिना प्रयास किए उसके सामने अन्तःकरण के पर्दे हटते चले जाते हैं। उसे सत्य का अधिकाधिक निकट अनुभव होने लगता है, इसी कारण फिर वह किसी से न तो कुछ पूछता है, न किसी से कुछ कहता है, न किसी का कुछ सुनता है। तो इस प्रकार की एक पकड़ होती है सत्य की, कि साधक को वह बरबस अपनी ओर खींच लेता है।

हम सभी साधक समुदाय, भाई-बहिन नये पुराने जो भी इस

ज्ञान यज्ञ में सम्मिलित हुए हैं, हम लोगों का अपना एक वर्तमान का कर्त्तव्य हो गया है। हमारी अपनी एक जवाबदेही हो गई। वह क्या ? कि जो भी चर्चा हम करते है, सुनते हैं सत्संग की बैठक पूरी हो जाने के बाद जगह-जगह निवास स्थान में जहाँ भी हम ठहरे हैं, थोड़ी देर के लिए चुप होकर, शान्त होकर अपने सम्बन्ध में सोचना चाहिए, अपनी दशा को देखना चाहिए और इस दिशा को बदलने के लिए इस दशा को मिटाने के लिए जो कुछ सुना है उसमें से कौन सा ऐसा उपाय है जो अभी हम कर सकते हैं- ऐसा चुनना चाहिए, जितनी बातें शास्त्रों में लिखी गई हैं, कोई एक साधक सभी शास्त्रों को न पढ़ सकता है न समझ सकता है, न सबको अनुसरण कर सकता है। संतजन जितनी बातें हम लोगों को बताते हैं, उन सारी बातों का अनुसरण कोई एक साधक एक जीवन में न समझ पायेगा न कर पायेगा और न उसको जरूरत है।

महाराज कभी-कभी उदाहरण देते तो कहते कि कोई रोगी किसी औषधालय में जाए तो वहाँ अनेक प्रकार की दवाइयाँ हैं अगर सब दवाइयों को खाना शुरू कर दे तो उसका रोग छूटेगा ? वह जियेगा कि मरेगा ? जी ? मरेगा। तो इसी प्रकार संसारमें विभिन्न बनावट के साधक हैं रुचि, योग्यता, परिस्थिति, तैयारी, समझदारी सब एक दूसरे से भिन्न हैं तो हरेक साधक के लिए कोई एक ही साधना उपयुक्त हो सकती है और एक ही से उसका कल्याण हो सकता है। हाँ जीवन का विधान इतना सुन्दर है कि किसी एक ही साधना के द्वारा जब उसे सिद्धि मिलेगी तो सिद्धि में उसको सब बातें मिलेगी जो किसी भी सिद्ध पुरुष को मिलती हैं। योग की सामर्थ्य भी मिलेगी बोध का आनन्द भी मिलेगा और प्रेम का रस भी मिलेगा, क्योंकि योग, बोध, प्रेम- यह सत्य की विभूतियाँ हैं। ब्रह्म का स्वरूप है परमात्मा का स्वभाव है। तो योगवित् होकर उन्हें प्राप्त करो। तत्त्ववित् होकर उन्हें प्राप्त करो, भक्तियुक्त होकर उन्हें प्राप्त

करो। जब प्राप्ति हो जायेगी तो प्राप्ति में अपने जीवन में उन परमात्मा का, उन परब्रह्म परमेश्वर का जो स्वरूप है, उनकी जो विभूतियाँ हैं, उनका जो स्वभाव है वह सब अपने को एक साथ ही प्राप्त हो जायेगा। यह बड़ी सुन्दर बात है।

आज के वर्तमान साधक समाज के लिए भी बहुत छोटा करके सारांश लेकर सब शास्त्रों का निचोड़ बनाकर, गीता और रामायण की भी रचना कर दी गई। थोडे में सब बता दें, तो बहुत कुछ बताया गया है। आज गीता, रामायण में श्रद्धा रखने वाले साधकों के लिए भी मैं यह निवेदन करती हूँ कि उसको भी अगर कोई समझने वाला हो तो उसे इन दोनों महाग्रन्थों में विश्वव्यापी साधन प्रणालियों का दर्शन होगा। वह भी सारा का सारा पढ़ जाने, समझ जाने और याद कर लेने की चेष्टा मत करिये, कोई जरूरत नहीं है। उनको भी पढ़ कर देखिये कि आपकी जो अपनी तैयारी है, अपनी पृष्ठभूमि है उसमें वह कहाँ तक फिट बैठता है। उसकी कौन सी ऐसी बात है छोटी से छोटी, जिसको कि आप अपने द्वारा अभी, इस वर्तमान में ग्रहण कर सकते हैं, अनुसरण कर सकते हैं। ऐसा कर लेने पर जो शास्त्र का प्रकाश है, जो गीता रामायण का उद्देश्य है वह सब अपने आप ही प्रकट हो जायेगा।

प्रारम्भ में जब मैं महाराजजी की वाणी सुनने के लिए गीता भवन में जाने लगी तो अनेक प्रकार के बहुत प्रश्न करती थी, और यथा संभव मेरा समाधान भी महाराज जी ने किया। करने के लिए तो उन्होंने कुछ भी बाकी नहीं रखा, लेकिन उससे से जितना मैं ग्रहण कर सकी उतना मेरे काम आया। एक दिन और कोई भाई गीता के ज्ञान के सन्दर्भ में प्रश्न कर रहे थे, मेरा प्रश्न नहीं था मैं बैठकर सुन रही थी तो महाराज जी ने कहा कि देखो भाई ! गीता किसकी समझ में आई ? गीता श्रीकृष्ण ने किसको सुनायी ? तुमको मालूम नहीं है अपने मित्र को सुनायी। तो गीता मित्र को सुनायी।

तो अगर तुम्हें गीता के ज्ञान की अभिलाषा है तो श्रीकृष्ण के मित्र बनो, तब गीता समझ में आयेगी। ऐसे ही समझ में आ जायेगी ? सस्ते छापेखाने में खूब गीता की प्रतियाँ छाप दीं तो इससे गीता थोड़े ही समझ में आती है। कृष्ण के मित्र बनो, और देखो मैं एक रहस्य की बात बताता हूँ कि जो सृष्टि के मालिक से मित्रता कर लेता है सृष्टि का सारा रहस्य मालिक उस मित्र को बता देते हैं तो जब तक तुम उनसे मित्रता नहीं करोगे, उनके मित्र नहीं बनोगे, उनकी आत्मीयता नहीं स्वीकार करोगे, उनकी घनिष्ठता नहीं प्राप्त करोगे तब तक उनकी वाणी कैसे समझ में आयेगी कहते-कहते कभी भाव में आ जाते तो अपना और भी कुछ रहस्य बोल देते कि मैं भी उनका मित्र हूँ न तो मुझको भी वह कभी-कभी अपना रहस्य बता देते थे। इसलिए मैं कहता हूँ कि अगर रहस्य जानना चाहते हो तो उनके मित्र बनो।

अब इसका मतलब क्या है ? जिस दिन से मैंने महाराज जी को ऐसा कहते हुए सुना, मेरी सारी जिज्ञासा शान्त हो गई। मैंने कहा कि महाराज जी ने मेरे सब प्रश्नों का उत्तर दे दिया। जिस दिन से मैंने सुना, महाराज जी ने कहा कि भाई सृष्टि का और सृष्टि के मालिक का रहस्य बुद्धि के स्तर पर तो समझ में आ ही नहीं सकता। वह इतना छोटा नहीं है कि तुम्हारी बुद्धि की सीमा में समा जाये। कितना विवेचन करोगे बुद्धि के बल पर ? बुद्धि भी तो भौतिक तत्त्व है न तो भौतिक तत्त्व के माध्यम से अलौकिक तत्त्व का ध्यान तुमको कैसे होगा, बौद्धिक विलास तो हो सकता है। फिर विवेचन करने लगता है। पंडितों की सूची में नाम लिखा गया। शास्त्रार्थ में दो चार जगह जीत करके मैडल पाकर आ गये- यह तो हो सकता है, लेकिन बुद्धि की सीमा, में बुद्धि जो भौतिक शक्ति universal energy का एक Part है, समष्टि शक्ति का एक अंश है, उस बुद्धि की शक्ति में वह अलौकिक रहस्य उतरेगा कैसे ? उस

अलौकिक रहस्य को कौन जानता है ? जो बुद्धि के पार जाता है, जो बुद्धि से असंग हो जाता है जो शरीरों से ऊपर उठ जाता है, जो संसार की दासता से मुक्त हो जाता है।

खुद ही अचाह हुए बिना, जीते जी मर जाने का संकल्प लिये बिना, अपने अस्तित्व को, सीमित अस्तित्व को बनाए रखने का मोह छोड़कर अनन्त से अभिन्न होने के लिए व्याकुल हुए बिना वह सत्य उद्घाटित होता ही नहीं है। दूसरा कोई करेगा क्या ? शरीर में कोई रोग हो तो कोई औषधि पिला सकता है, यह भौतिक पहलू है ना ! तो इसमें भौतिक जगत् के संगी-साथी, कुटुम्बी सहायक हो सकते हैं बहुत तेज भूख लगी हो और अपने में सामर्थ्य नहीं है तो कोई दूसरा भोजन करा दे सकता है, जल पिला दे सकता है। तो भौतिक शरीर की क्षति-पूर्ति जरूरत की पूर्ति में भौतिक जगत् सहायक हो सकता है, लेकिन अलौकिक तत्त्व के विकास में भौतिक जगत् सहायक कैसे होगा ? हो ही नहीं पायेगा। इसलिए मानव सेवा संघ ने कहा- बहुत छोटे और बहुत मार्मिक वाक्यों में "अपनी आँखों देखो अपने पैरों चलो"। उस साल देश के विभाजन के समय जब धर्म के नाम पर बड़ा भारी नरसंहार होने लगा, तो स्वामीजी महाराज बहुत पीड़ित होने लगे, कहने लगे कि एक एक नेता ने अपनी झक पूरी करने के लिए करोड़ों निरपराध और निर्दोष व्यक्तियों का संहार करा दिया। तो मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा क्या है ? मानव सेवा संघ के भीतर जो उनका उद्देश्य रहता था, जो उनका दर्द रहता था, उन्होंने कितनी बार मुझसे कहा- कि देवकीजी, मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा यह है, प्रभु ने तुम्हें सामर्थ्य दी, तुम कर सको तो यह सेवा जीवन भर करना- कि मानव को अपने विकास में यह विश्वास हो जाए कि वह स्वाधीनता पूर्वक चल सकता है। बडी भारी सेवा है। आज हम लोगों के जीवन में धन का बड़ा महत्त्व स्थापित हो गया, अधिक धन होगा तो हम बड़े आदमी

होंगे। वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर भौतिक शक्तियों का उपयोग करने में बड़ा विश्वास हो गया। मोटरकार हो जाए, टेलीफोन हो जाए, टेलीविजन हो जाए बड़ा मजा आयेगा। तो जड़ जगत् की वस्तुओं में एक चेतन विश्वास कर ले, यह उसका उत्थान हुआ कि पतन हुआ ? जी पतन हुआ। कितनी बड़ी भूल है कि हम अपने अलौकिक तत्त्व-ज्ञान और प्रेम को नहीं बढ़ाते और जगत् की वस्तुओं के आधार पर अपना मूल्यांकन करते हैं। तो महाराज जी ने बारम्बार मुझे प्रेरणा दी और सब साधक समाज को वे प्रेरित करते रहे, कोई भी उनके पास आ जाए उनका समर्थन करने वाला आ जाए, उनका विरोध करने वाला आ जाए, उनकी बातों का खण्डन करने वाला आ जाए, प्रेमपूर्वक गले लगायेंगे, अरे भैया ! तू मुझको अपना नहीं मानता है तो तेरी भूल है। मैं क्या करूँ ? मैं तो जानता हूँ तू मेरे प्यारे का प्यारा है। विरोध करने वाले, खण्डन करने वाले को भी गले लगा लें और यही कहते हैं अरे भैया ! तू मुझको अपना नहीं मानता है तो तेरी भूल है। मैं क्या करूँ ? मैं तो जानता हूँ कि तू मेरे प्यारे का प्यारा है। तो मेरी बात मत मान, भगवान न करें कि कोई दूसरे की बात मानने के लिए तैयार हो, मैं एक ही निवेदन करता हूँ कि प्यारे मेरे, तू अपनी ही बात मान ले। तेरा कल्याण हो ज़ायेगा।

तो स्वामीजी महाराज ने मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा बताई कि मानव समाज को यह विश्वास हो जाए कि संसार का जो छोटे से छोटा काम है, वह संसार की सहायता के बिना नहीं हो सकता, परन्तु इस व्यक्तित्व में जो अलौकिक तत्त्व है उसके विकास में किसी की सहायता की जरूरत नहीं है। जब इस शरीर से सम्बन्धित प्राप्त बुद्धि की ही जरूरत नहीं है तो इससे भिन्न और किसकी ज़रूरत पड़ेगी आपको ? नहीं पड़ेगी।

एक दिन की बात है। महाराजजी उस समय शरीर और

संसार से असंग होकर अपने प्रेमास्पद की अभिन्नता में आनन्दित होकर दुनियाँ से त्रिगुणातीत अवस्था में बैठे थे, ऐसा उस समय मुझको आभासित हुआ। मुखमण्डल से अद्भुत छटा निकल रही थी, बड़ी प्रसन्नता छाई हुई थी। वह दर्शन मुझको इतना प्रिय लगा कि मैंने कुछ कहा नहीं, और इधर समय का हिसाब करने की आदत, बार-बार घड़ी देख रही हूँ, समय बीतता जा रहा है, ये महाराज तो अपने आनन्द में मग्न हो रहे हैं, मेरे पढ़ने का समय बीत जायेगा, मुझको प्रश्न का उत्तर कब मिलेगा ? ये तकलीफ थी। महाराज अपनी मस्ती में मस्त बैठे हैं, तो पीछे खड़ी थी मैं, आगे स्वामीजी महाराज बैठे थे। दर्शन का आनन्द ले रही थी तो बार-बार मेरे प्रश्न, मेरे मन में प्रश्न टकरा रहे थे। इससे स्वामीजी महाराज ने आँखें खोल दीं और बिना मेरे कुछ बोले और मैं आगे भी नहीं गई थी पीछे दरवाजा पकड़ के खड़ी थी, बिना किसी के कुछ कहे, मेरा नाम लेकर पुकार कर कहने लगे, देवकीजी, क्या तुम लोग बुद्धि के क्षेत्र में विचरण करते रहते हो ? क्या बुद्धि की उलझन में पड़े रहते हो ? अरे बिटिया, मैं तो एक छलाँग में बुद्धि के पार चला जाता था और मुझको मालूम नहीं हैं ? आदमी यों चुटकी में स्वाधीन होता है, चुटकियों में। अब तो कहने को तो कह गये अपनी मस्ती में, मैंने सुना। तो बुद्धिमानी का अभिमान तो था ही, मैं सोचने लगी कि देखो इनको बनाने वाले ने इतनी सामर्थ्य देकर भेज दिया कि ये जब सत्य का संग करते तो एक छलांग में असत् का संग छोड़ देते, शरीर और बुद्धि के पार चले जाते। सृष्टिकर्त्ता ने हमारे को तो वैसी सामर्थ्य दी नहीं है। तो मैं बुद्धि के फेर में पड़ी रहती हूँ। शिकायत मेरी गई नहीं। उस समय मैं चुप हो गई, और बाद में फिर मैं चर्चा करने लगी। तो यह उदाहरण मैंने अपने लोगों के सामने इसलिए रखा कि जो सत्य का प्राकट्य है इस जीवन में वह असत् के माध्यम से नहीं होगा। सत्य का जो प्राकट्य है उसकी अभिव्यक्ति उसी व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होती है, वह असत् की सहायता से

किसी हालत में नहीं होगा। यह मानव सेवा संघ की देन है। मानव सेवा संघ की खोज है। महाराजजी ने सत्य के सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया कि सत्य को कोई बनाता नहीं है, उसका निर्माता कोई नहीं होता। वह स्वतः सिद्ध होता है। सत्य की खोज होती है। सत्य का प्राकट्य होता है। तो उन्होंने शोघ किया, उनके जीवन में सत्य प्रकट हुआ। और चूँकि वे अपने को न कुछ करके मानते थे, सत्य को ही प्रतिष्ठा देना पसन्द किया उन्होंने इसलिए अपनी शोघ को, अपने जीवन में जो सत्य का प्राकट्य हुआ, उस अनुभव को अपने नाम से न कहकर मानव सेवा संघ के नाम से कह दिया। तो आज महाराजजी की वाणी को आपकी सेवा में इस रूप में रख रही हूँ मैं कि उन्होंने कहा है कि मानव सेवा संघ एक ऐसा Platform होगा, यह एक ऐसी विचार प्रणाली है कि जिसमें सब मत सम्प्रदाय वर्ग के भाई-बहन बैठकर स्वाधीनतापूर्वक परस्पर विचार-विनिमय करें और स्वाधीनतापूर्वक सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ें। तो आज मानव सेवा संघ के प्रेमियों का यह परम कर्त्तव्य होता है, कि वह स्वयं अपने आप में स्वाधीन होकर आगे बढ़े। और जितने भी भाई-बहिन हमारे निकट सम्पर्क में आते हों उनको भी उनके जीवन में यह अन्तर्दृष्टि दिलायें कि भाई, तुम अपने विकास में पूर्ण स्वाधीन हो, इसमें अपने को पराधीन मत मानो, ऐसा मत सोचो कि कोई सद्‌गुरु मिलेगा, तब मेरा साधक का जीवन आरम्भ होगा। तो सद्‌गुरु के मिलने की प्रतीक्षा में समय मत गँवाओ। मंगलमय विधान इतना सुन्दर है कि सचमुच तुम सद्‌गुरु के सलाह के अधिकारी जिस क्षण हो जाओगे सद्‌गुरु के रूप में वे अनन्त अपने आप ही तुम्हारा मार्गदर्शन कर जायेंगे। प्रतीक्षा में समय मत गँवाओ। सद्‌गुरु के रूप में जो ज्ञान का प्रकाश तुम्हारे ही में विद्यमान है, वह प्रकाश तुमको जो दिखता है उतना तुम चलो। और जितना चाहिए वह भी दिखा देगा और हाथ पकड़ के मंजिल पर पहुँचा भी देगा।

अनन्त परमात्मा सभी का है, इसलिए वह हमें भी मिल सकता है, उससे कभी निराश मत हो। और सुख-दुःख साधन सामग्री है, उसको जीवन मत मानो। ये दो बातें महाराजजी ने बताई। सुख-दुःख साधन सामग्री है; उसको जीवन मत मानो; और अनन्त परमात्मा सभी का है, इसलिए उससे मिलने से निराश मत हो। और अपनी वर्तमान दशा देखने से क्या मालूम होता है कि हम लोग बिल्कुल उल्टा करते हैं। जो अनन्त परमात्मा सभी का है, सभी में है, अभी है वर्तमान में, उससे मिलने में थोड़ी निराशा भी रहती है, कुछ अपने में हीन भावना भी रहती है। अरे, मैं तो बहुत मामूली आदमी हूँ और गृहस्थी के प्रपंच में रहने वाला हूँ, मुझे परमात्मा कैसे मिल सकता है। तो अपनी ओर से अपने को अनधिकारी मान लेना, परमात्मा को अपने से बहुत दूर मान लेना-यह परमात्मा से मिलने वाले भक्त कोटि के साधक के लिए बहुत हानिकारक बात है कि मैं परमात्मा को अपने से बहुत दूर मानूँ।

दूसरी भूल यह होती है कि सुख-दुःख जो साधन सामग्री है उसको हम जीवन मान लेते हैं। जीवन मान लेने का अर्थ क्या है ? कि उसको सत्य मान लेते हैं। सुख आया तो उसको भी सत्य मान लिया। सुख और दुःख को सत्य मानकर दुःख से बचने के लिए और सुख को बनाए रखने के लिए हम बहुत उपाय करते हैं।

सन्तजन की सलाह क्या है ? सन्तजन सलाह यह देते हैं कि भाई ! सुख और दुःख के भोगी मत बनो, यह पहली बात है और जो सुख का भोगी नहीं बनता है उसे दुःख भोगना नहीं पड़ता है। जो सुख-भोग की तृष्णा का त्याग कर सकता है उसके जीवन में से सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। कभी-कभी मैं साधक की दृष्टि से सोचने लगती हूँ अपने लिये, तो मुझे ऐसा लगता है कि साधक कोटि के लोगों को दुःख से बचने लिए ज्यादा परेशानी नहीं उठानी पड़ेगी। सुख-भोग की वासना से बच जाएँ तो काम बन जाये- यह

खास बात है। दुःख से बचने के लिए तो बहुत सोचा-विचारा, पर हुआ नहीं कोई काम, लेकिन सुख-भोग के स्तर से हम ऊँचे उठ जाएँ तो सर्व दुःखों की निवृत्ति हो सकती है। मानव सेवा संघ की प्रणाली में साधक भाई-बहिनों को यह सलाह दी गई कि सुख और दुःख अपने आप आते हैं, विधान से आते हैं, तो आने दो उनको। स्वयं क्या करो ? दोनों से अपने को ऊपर रखो, न सुख के भोगी बनो, न दुःख के भोगी बनो। दोनों से ऊपर रहकर आये हुए सुख और आए हुए दुःख दोनों का उपयोग करो। उपयोग क्या करें ? सुख का उपयोग है सेवा, दुःख का उपयोग है त्याग। जिस-जिस हिस्से में सुख मालूम होता हो, उस-उस हिस्से से सेवा करो। जैसे-शरीर में काफी बल मालूम होता है तो निर्बलों की सहायता में उसका उपयोग करो, धन-सम्पत्ति अन्य सामग्री अपने पास ज्यादा आ गई तो उसके भोगी न बनकर उस सामग्री से निकटवर्ती जन-समुदाय की सेवा करो। योग्यता बढ़ गई है, कोई पद मिल गया है, तो यह सब भी सामर्थ्य है, प्राकृतिक विधान से प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ सेवा-सामग्री मिलती है, तो अगर ये सब मिल गया है तो इसके द्वारा भी, जो आस-पास में रहते हैं जिनसे निकट सम्पर्क है उनकी सेवा करो। तो सुख का उपयोग है सेवा और दुःख का उपयोग है त्याग। मूल बात एकबार मैं फिर दोहराऊँ। कौनसी ? कि सुख-दुःख साधन-सामग्री है इसको जीवन मत मानो। अपनी एक बड़ी भ्रमात्मक धारणा है, सुख मिलने से उसका श्रेय हम लोग अपने पर ले लेते हैं, मैंने अपनी बुद्धिमानी से ऐसा इन्तजाम कर लिया, ये मेरी बड़ी बहादुरी है कि हमारे पास इतने प्रकार के सब सुख आ गये, मैं बड़ा पुण्यात्मा पुरुष हूँ, पूर्वजन्म में मैंने बड़े-बड़े पुण्य कर्म किये थे, इसलिए सब सुख मेरे सामने आ गये। तो सुख मिलने से सारा श्रेय अपने पर ले लेना-यह अपने को अभिमानी बना देता है। दुःख मिलने से अपने को हतभागा समझ लेना-यह प्राणी को, व्यक्ति को बहुत ही दीन बना देता है। कभी ऐसा मैं सुनती हूँ तो मुझे बड़ा

कष्ट होता है कि एक तो जो क्षति हो गई उसको बरदाश्त करो और दूसरे उस क्षति हो जाने का कारण अपनी दुष्कृति को सोच करके और दुहरा दुःख सहो। इस प्रकार से दुःख का भार अपने पर लाद करके जो दुःख रहित जीवन है, उससे विमुख हो जाना, जो आनन्दमय जीवन है उससे वंचित रह जाना, जो प्रेममय-रसमय जीवन है उससे निराश हो जाना, मानव के लिये कलंक है। ऐसा नहीं होना चाहिए। होना क्या चाहिए ? जैसे प्रातःकाल की चर्चा में मैं निवेदन कर रही थी कि दुःख सृष्टि का एक अनिवार्य पहलू है, तो दुःखद परिस्थिति को भी और सुखद परिस्थिति को भी, जीवन का अनिवार्य अंग मानकर, सृष्टि का अनिवार्य अंग मानकर साधन दृष्टि से इनको देखना चाहिए और इनका ठीक उपयोग करना चाहिए। तो मैंने ऐसा देखा है कि दुःख की घड़ी में जितनी चेतना रहती है, अगर उस चेतना का अनुसरण किया जाये तो बड़ा विकास हो सकता है। दुनियाँ में ऐसे महापुरुष भी हुए जिन्होंने सुख की घड़ियों में भी अपने को सचेत रखा और बहुत से साधक सिद्ध ऐसे हुए जिन्होंने दुःख की घड़ियों में आई हुई चेतना का आदर करके अपने को बहुत ऊँचा उठा लिया।

एकबार स्वामीजी महाराज ने कहा, "देवकीजी ! तुम नहीं जानती हो, दुःख की घड़ी में व्यक्ति का अहंकार गलता है, विपत्ति आ जाए तो विपत्ति की घड़ी में बड़े से बड़े अहंकारी व्यक्ति का अहंकार भी गल जाता है।" बुद्धि काम नहीं कर रही, शरीर साथ नहीं दे रहा, साथी साथ नहीं दे रहे हैं, चतुराई-चालाकी से काम नहीं बन रहा है। विपत्ति आ ही गई सिर पर, सामने ही हो गई तो आदमी करे क्या ? तो उस समय उसकी अहंकृति टूटती है, अभिमान छूटता है और सुख-भोग की ओर से स्वभाव से ही उसका जी हटता है। आपने देखा होगा कि सगे-सम्बन्धी हों, अपने कोई कुटुम्बी हों किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति में फँस गये हों, तो

सहानुभूति में आकर के ही आपको राग-रंग अच्छा नहीं लगता है, स्वभाव से सुख की ओर से जी हटता है। अब आप सोच करके देखिये कि साधक के जीवन में कितनी बड़ी बाधा खड़ी होती है, सुख के आकर्षण में। उस सुख का आकर्षण दुःख की घड़ी में सहज से ही घट जाता है तो बहुत बड़ा उपकार हो गया आपका। एक सुख-भोग का आकर्षण चला गया। थोड़ी देर के लिए, कभी-कभी वो, कहने के लिए जिसे शमशान का वैराग्य भी कहते हैं न, हो जाता है। दुःख की घड़ी में सुख का राग चला जाता है और अभिमान घट जाता है, अहंकृति टूट जाती है। फिर तीसरी बात महाराजजी ने कही कि इनका प्रभाव क्या होता है ? कि दुःखी व्यक्ति का हृदय काफी कोमल हो जाता है। सुख की ओर से अरुचि हो गई, इसलिए भी हृदय में कोमलता आ गई। सुख का भोगी दुःखियों को देखते हुए भी सुख भोगता है तो उसे हृदय को कठोर करना पड़ता है। अपना जी कठोर किये बिना कोई सुख नहीं भोग सकता है। तो सुख के भोगी का हृदय कठोर हो जाता है। सुख भोगने से अरुचि हो गई तो हृदय कोमल हो गया। अपने गुणों के अभिमान का अभिमानी हृदय को कठोर बना लेता है। उसको परमात्मा की महिमा याद नहीं आती, उसको समाज की उदारता याद नहीं आती, उसको प्राकृतिक विधान में मंगलकारिता दिखाई नहीं देती। अपने अभिमान के आगे उसको सच्ची बातें नहीं सूझती हैं तो अभिमानी का हृदय भी कठोर हो जाता है। परन्तु दुःख की घड़ी में जब अभिमान गल जाता है, सुख की वासना से अपने आप ही जी कुछ देर के लिए हट जाता है, हृदय कोमल हो जाता है तो उस घड़ी अगर कोई सच्ची और अच्छी बात सुनने को मिले तो उसका बड़ा जोरदार Stamp लगता है व्यक्ति के व्यक्तित्व पर।

हम लोगों को अपनी वर्तमान दशा में सुख और दुःख दोनों को देखना चाहिए। बहुत गहराई से देखना चाहिए और देखकर के

अपना मूल्य सुख और दुःख दोनों से अधिक बढ़ाकर रखना चाहिए। आपका जो मूल्य है वह अविनाशी सत्य के आधार पर है। अविनाशी प्रेम के आधार पर है। तो सत्य का कितना अनुसरण है मेरे जीवन में, प्रेम का कितना प्रभाव है मेरे हृदय पर, कठोरता किस अंश से मिट गई मेरे जीवन से, मन से, वचन से, वाणी से, कर्म से, भाव से कठोरता कितनी निकल गई मेरे जीवन में से, इस पर अपना मूल्यांकन करें। मुझको अपने सुख की अपेक्षा प्राप्त सामग्री को, पर-पीड़ा को दूर करने में, लगाने में कितना अच्छा लगता है। इसके आधार पर अपना मूल्यांकन करें। हमने कितना लगा दिया-इसका अभिमान पालने से काम नहीं चलेगा और मैं आपकी बहुत प्रशंसा कर दूँ कि आप बड़े उदार हैं और आप बड़े सेवाभावी हैं, तो मेरे ऐसा कहने से भी आपका कोई काम नहीं बनता है। आप अपना दिल टटोल करके देखिये कि कोई सुखद सामग्री मेरे सामने आती है तो उसका भोग करना मुझको अच्छा लगता है कि उस सामग्री को देखकर के किसी पीड़ित की याद आती है ? समझ में आता है ? सुख-भोग पतन है, सेवा उत्थान है। इस प्रकार से जो ज्ञान और प्रेम के आधार पर अपना मूल्य बड़ा कर सकता है, उस साधक के द्वारा बड़ी कुशलतापूर्वक सुख-दुःख का सदुपयोग हो जाता है और आप सच मानिये, सुख का लालच और दुःख का भय, अगर यह हम लोगों के जीवन में से निकल जाता तो परम-प्रेमास्पद का प्यार इस जीवन में भर जाता। सुख का लालच और दुःख का भय - ये दोनों इस प्रकार से हम लोगों के जीवन में भरे पड़े रहते हैं कि फुरसत ही नहीं मिलती है कि कभी शान्त होकर, दो घड़ी चुप होकर, अहंकार रहित होकर, चिन्तन से मुक्त होकर हम अपने सम्बन्ध में सोच सकें, अपने प्रेमास्पद के संबंध में सोच सकें। इस जीवन को शरीर और संसार की दासता से मुक्त करके परम-प्रेमास्पद का प्रेम भर सकें, इस ओर दृष्टि डालने के लिए फुर्सत ही नहीं रहती। और ऐसा मत सोचिए कि घर-गृहस्थी में लगे रहने का

अर्थ होता है कि हम सत्य और प्रेम से वंचित रहें, ये बात नहीं है। यदि दिल में सुख-दुःख के प्रति सद्भाव है तो चाहे गृहस्थी बन के रहिये, चाहे वनस्थी बन के रहिये, उस सुख-दुःख का चिन्तन चलेगा ही। सुख-दुःख का मूल्य सेवा और त्याग के रूप में लेने पर चाहे घर में रहिए, चाहे गृहत्यागी बनिये, दृष्टि हमेशा ही अविनाशी जीवन पर जाती है।

अविनाशी जीवन के सम्बन्ध में आपने क्या सुना ? अविनाशी जीवन के सम्बन्ध में जो सबसे अच्छी और सबसे ऊँची बात मेरे ध्यान में आई, वह यह है कि अविनाशी जीवन से अभिन्न होने के लिए साधक को किसी प्रकार की दौड़-धूप नहीं करनी है, परिश्रम नहीं करना है, पराश्रय नहीं लेना है। परिश्रम और पराश्रय से रहित उसकी आवश्यकता अनुभव करना पहली शर्त है। उसके लिए प्रतिपल लालायित रहना, उसकी विद्यमानता में अटूट श्रद्धा और विश्वास रखना-ये ही सत्य है। उसके लिए कुछ करना पड़ेगा, सो नहीं। अभी हम लोग जो प्रवचन सुन रहे थे, महाराज ने कहा न, कि कोई पढ़ा लिखा आदमी होगा तो हमको डाँट देगा, कहेगा कि अनेक जन्मों में सिद्धि मिलती है तो महाराजजी कहते हैं कि तुम्हारे पास इसकी कोई सूचना आई है ? क्या चिट्ठी लिखकर आई है कि तुम्हारा पहला जन्म है कि आखिरी जन्म है ? यह कौन जानता है कि पहले-पहल आदमी बने हो या यह आखिरी जन्म है। इसी में तुमको सिद्धि मिलने वाली है इसकी कोई सूचना आई है ? मतलब क्या है ? मतलब यह है कि भाई, न जाने किस तरह से मानव जीवन मिल गया। सन्त लोग तो ऐसा ही कहते हैं कि यह जीवन किसी पुण्य का फल नहीं है, परम कृपालु अपनी कृपालुता से, अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन दे देते हैं। तो मिल गया है तो इसी वर्तमान में इसका पूरा-पूरा लाभ उठा लो, यह क्यों सोचो कि अभी से हम आरम्भ करेंगे तो बहुत दिनों तक करते-करते अनेक जन्मों के

बाद मुझको सिद्धि मिलेगी। अगर प्रारम्भ में मैं ऐसा सोच लूँ तो मेरा सारा प्रयास बहुत ही शिथिल रहेगा।

स्वामीजी महाराज को साधकों के जीवन की शिथिलता और उनकी असफलता बिल्कुल सहन नहीं होती थी, और जैसे-जैसे मैंने जीवन की चर्चा को सुन करके अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण किया, तो मुझे यह स्पष्ट रूप से मालूम होने लगा कि जो बात अपने ही में विद्यमान है, जो सत्य अपने ही में विद्यमान है वह सत्य स्वयं प्रकाश है। आप यह भी देख लीजिये, जैसे- एक किताब यहाँ रखी रहे और हम कहें कि किताब कहाँ है ? यहाँ हैं, यह मालूम न हो तो इस किताब में सामर्थ्य नहीं है कि वो कह दे कि मैं यहाँ हूँ, नहीं है न। यह पर-प्रकाश्य है, स्वयं-प्रकाश नहीं है। तो खोजते-ढूँढते आपको इस जगह पर आना पड़ेगा, इसको देखना पड़ेगा, तब आप इसे उठा सकेंगे। लेकिन जिस नित्य तत्त्व की आराधना हम लोग करना चाहते हैं, जिस प्रेम तत्त्व की आराधना हम लोग करना चाहते हैं जिस प्रेम के द्वारा प्रेमास्पद को पाना हम चाहते हैं, वह सत्य तत्त्व, वह नित्य तत्त्व, वह परमात्म तत्त्व पर-प्रकाश्य है, किताब की भाँति, कि स्वयं-प्रकाश है ? जी ? स्वयं-प्रकाश है। इसलिये आपको खोजने-ढूँढ़ने के लिये उसके पास जाना नहीं पड़ेगा। आपसे कहीं दूर होता, कहीं छिपा हुआ होता, कहीं खोया हुआ होता, किसी अन्धकार में डूबा हुआ होता तो प्रयास अपेक्षित था। वह तो नित्य निरन्तर सदा सर्वदा स्वयं-प्रकाश अपने को प्रकाशित करने में स्वयं समर्थ, ऐसा आप ही में विद्यमान है। इसलिए जब हम लोग उसकी जरूरत अनुभव करते हैं, तो उसको प्रकट होते देर नहीं लगती है। वह स्वयं-प्रकाश है ना, खुद अपने आप साधक पर प्रकट कर देता है। मेरे प्यारे मेरे लिये व्याकुल क्यों हो रहे हो, मैं तो तुम्हारे में ही हूँ, मैं तो तुम्हारे ही पास हूँ।

पराश्रय छोड़ दो, परिश्रम छोड़ दो, अहंकृति समाप्त करो,

अपने सकल्प छोड़ दो, थोड़ी देर के लिये शान्त होकर, अप्रयत्न होकर, शरीर और संसार से असंग होकर रहना सीखो। जो सत्य है वह स्वयं प्रकाश है, वह नित्य तत्त्व है, वह आनन्दमय है, वह प्रेममय है। केवल मेरी हलचल और मेरी बाह्य प्रवृत्तियाँ, मेरे सुख-दुःख का लालच और भय - इन्हीं ने मुझको उस नित्य तत्त्व से वंचित कर दिया है। तो अपनी भूलों को छोड़ देना पुरुषार्थ है। भूल रहित जीवन में सत्य का प्रकाश स्वतः होता है, ऐसा सभी अनुभवी सन्तों का मत है।

(71)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

सन्तवाणी में जीवन की सफलता का एक उपाय हम लोगों ने सुना, बहुत ही स्वाभाविक। स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि जिस जीवन की माँग है तुम में, उसकी तीव्रता बढ़ाओ, उसके अतिरिक्त और कुछ मत चाहो। इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक दिनों में काफी सोचा मैंने, तो मुझे ऐसा लगा कि विश्राम हम लोगों को कहाँ मिलता है ? जो शान्तिस्वरूप है, जो ज्ञानस्वरूप है, जो प्रेमस्वरूप है, उसी में अपने को विश्राम मिलता है। उससे बिछुड़कर अर्थात् विमुख होकर जब हम उत्पत्ति-विनाश-युक्त परिवर्तनशील दृश्यों की ओर आकर्षित हो जाते हैं तब विश्राम नहीं मिलता। इसलिये नहीं मिलता कि जो स्वयं ही निरन्तर परिवर्तित हो रहा है, जिसमें एक क्षण के लिए भी ठहराव नहीं है उसके पीछे दौड़ने में, उसको पसन्द करने में, उसको अपने जीवन का सहारा बनाने में, कभी सफलता मिल ही नहीं सकती, इस कारण से विश्राम नहीं मिलता है।

दूसरी बात यह है कि जो बनने, बिगड़ने, बदलने वाली परिस्थितियाँ है उनके द्वारा अपने को सन्तुष्टि भी नहीं मिलती।

आपने जीवन में बहुत-सी विकट घड़ियों को देखा होगा और अनुकूल परिस्थितियों में भी कुछ समय रहने का अवसर सब भाई-बहिनों को मिलता है। प्रकृति का विधान ही ऐसा है, सुख भी आता है, दुःख भी आता है। सुखद परिस्थितियाँ हम लोगों के जीवन में आई हैं, एकबार नहीं अनेक बार। फिर भी आज की वर्तमान की दशा देखकर सोचिए कि सुखद परिस्थितियों में रहने के बाद भी अन्दर से सन्तुष्टि हो गई कि भीतर-भीतर अभी कुछ बाकी है। कैसा लगता है ? सुखद परिस्थितियों ने हम लोगों को सन्तुष्ट नहीं किया, आईं और चली गईं। अगर सुखद परिस्थितियों के भीतर से होकर निकलते समय ज्ञान का प्रकाश लेकर निकली तब तो वे साधन में सहायक बन जायेंगी और यदि उनके साथ खूब आसक्त हो जाओ, उनका सुख लेना पसन्द करो, तो सुखद परिस्थितियों का सुख भोगने वाला व्यक्ति बहुत ही दुःखी हो जाता है। उन परिस्थितियों के बदल जाने से बहुत दुःखी हो जाता है, बहुत परेशान हो जाता है। यह सब अनुभव अपने लोगों को है।

सत्संगी होने के नाते हम सभी भाई-बहिनों को जीवन के इस सत्य पर ध्यान देना चाहिए कि भाई, शरीरों की सहायता से, संसार के संयोग में बहुत प्रकार के सुख और दुःख हम लोगों ने देख लिये और दोनों में से किसी का ऐसा परिणाम नहीं निकला कि जिससे हम सन्तुष्ट हो जाते। इसलिए वैधानिक आधार पर सुखद-दुःखद परिस्थितियाँ आती रहेंगी, उन्हें आने दिया जाये, उनके पीछे पड़ने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन अपने भीतर जो सन्तुष्टि चाहिए - अपने को परम स्वाधीनता की माँग है, परम-प्रेम के रस की माँग है - अपनी जो माँग है उसको अपने सामने रखना चाहिए। किस आधार पर ? इस आधार पर कि जीवन की जो माँग है वही वास्तविक जीवन है। अनुभवीजनों ने हम लोगों को उसके बारे में बताया है। सद्ग्रन्थों में उसके सम्बन्ध में लिखा है और स्वयं अपने

आप में हम उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। अपने को परमशांति की; परम-प्रेम की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को अगर सामने रखा जायेगा तो अपना बड़ा उपकार होगा। क्या उपकार ? मैंने एक बहुत अच्छा परिणाम देखा है। आप भी देखिये, विचार कीजिये, आपको भी अच्छा लगेगा। देखिये, संसार के किसी व्यक्ति का संयोग आपको अच्छा लगता है, वह आपको आदर देता है, प्यार देता है, सहयोग देता है, मीठा बोलता है, आपके दुःख में खड़ा होता है - तो ऐसा आदमी अच्छा लगता है। अब शरीर से दूरी तो उसकी हमेशा ही है तो परिस्थितिवश किसी दूर देश में वह चला गया और आपको उसकी याद आ रही है तो याद आने से आपके भीतर की प्रसन्नता घट जाती है। उसकी याद आई तो वियोग सताने लगा, उससे मिलने की इच्छा हुई और मिलने का संयोग नहीं है तो बेबसी सताने लगी। आपने अपने को समझाया कि भाई, जरूरी काम से गया हुआ है, धीरज रखो, चार-छः महीने बाद आने वाला है, दो-चार साल बाद आने वाला है - तो किसी तरह से मन मारकर बेबसी को सहन करते हुए वियोग में दुःखी होते हुए आप भीतर-भीतर खिन्न हो जाते हैं, दुर्बल हो जाते हैं, काम में मन नहीं लगता है, हालत बिगड़ जाती है। यह तो होता है उसको पसन्द करने से, जो सदा के लिये अपना साथ दे नहीं सकता है।

अनुभवी संत अपने जीवन के अनुभव के आधार पर हम लोगों का दुःख मिटाना चाहते हैं। इस दुर्दशा का अन्त करना चाहते हैं। वे सलाह देते हैं कि देखो भाई, यह संसार जो दिखाई देता है यह तो तुम्हारी सेवा का क्षेत्र है और जो सदा के लिये तुम्हारा साथ देने वाला है और जिसकी संगति उत्तरोत्तर अधिक से अधिक प्रिय और मधुर होती चली जाती है, वह जो है, वह तो तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। वह अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता। सर्वव्यापी है, तुमको छोड़कर कहीं दूर नहीं जाता। सर्वज्ञ है, उसको कुछ कहकर

सुनाना नहीं पड़ता। समर्थ है, वह तुम्हारी जरूरत के अनुसार सब कुछ कर सकता है। ऐसा हम लोगों ने सुना है न। तो ऐसा साथी किसको नहीं चाहिए ? सभी को चाहिए। अच्छा ! और उनकी ओर से किसी को इन्कार नहीं है, कि तुम ब्राह्मण कुल में जन्मे हो कि नहीं; कि तुमने अध्ययन किया है कि नहीं; कि तुमने इतना व्रत-उपवास किया है कि नहीं - उनके यहाँ ऐसा कोई भेद-विचार नहीं है। जो भी उनको पसन्द करे, जो भी उनकी आवश्यकता अनुभव करे, उसी को उनकी उपस्थिति का अनुभव हो जाता है। जो भी उनकी आवश्यकता अनुभव करे, उसी की आवश्यकता पूरी हो जाती है। और कोई भी व्यक्ति दुर्बल से दुर्बल, अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर उनकी कृपा की आवश्यकता अनुभव करे तो उन पर कृपा बरसती है, इस अनुभव से वह आनन्दित हो जाता है।

प्रारम्भिक दिनों की बात है, जब जीवन की समस्या को सुलझाने के लिए मैं संत के पास बैठी थी तो यह अच्छी-अच्छी बातें, सच्ची बातें सुनने को मिलीं। मैंने इन बातों पर विचार किया तो मुझे बड़ा भारी अन्तर मालूम हुआ। अन्तर क्या मालूम हुआ ? कि जिस प्रतीत होने वाले दृश्य जगत् से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उस जगत् में से कोई दृश्य मैंने अपने लिए पसन्द किया तो उसने मुझे पराधीन बनाया, अतृप्त बनाया, वियोग की पीड़ा में तड़पाया, आसक्त बनाया, विवश बनाया, दुर्बल बनाया और बीमार बनाया। होता है कि नहीं। चिन्ता में आदमी बीमार भी हो जाता है। शरीर भी रोगी हो जाता है। मन भी रोगी हो जाता है। लेकिन हम इस प्रकार की बेबसी में दुःख भोगते हुए मरने के लिए पैदा नहीं हुए। हमारा अस्तित्व तो उस पर आधारित है, जो अनादि है, अनन्त है, जिसमें बिछुड़ने का भय नहीं। उसमें वह सब कुछ है जिसकी हम लोगों को आवश्यकता मालूम होती है। आपको शान्ति की आवश्यकता मालूम होती है ? आपने सुना है, परमात्मा शान्तिस्वरूप है, तो अपने को

जिसकी जरूरत मालूम होती है वह सब उनका स्वरूप ही है। अज्ञानता से मोह की पीड़ा में, लोभ की पीड़ा में हम दुःख पा रहे हैं तो हमको ज्ञान का प्रकाश चाहिए, जिससे लोभ का नाश हो जाए, मोह का नाश हो जाए। अपने को ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता मालूम होती है, तो अनुभवी सन्त कहते हैं कि वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही है। फिर अपने को प्रेम का रस चाहिए, नीरसता का भार सहन नहीं होता है, भीतर-भीतर अभाव सताता रहता है। हर भाई को, हर बहिन को प्रेम का रस चाहिए, तो भगवद् भक्तों ने हम लोगों को बताया कि परमात्मा प्रेमस्वरूप ही है। तो देखिये, कितनी सीधी-सी बात है और अपने लिए रास्ता कितना साफ है कि जिस शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम के बिना, इस संसार में एक रात भी शान्ति से हम सो नहीं सके, जिसकी आवश्यकता हम महसूस करते हैं वह अस्तित्व, वह परम सत्ता, वह सनातन सत्य, सदा-सदा से विद्यमान है। कितनी अच्छी बात है कि जो है, उसी की आवश्यकता हम लोगों को मालूम होती है। ऐसा नहीं है कि जो नहीं है, उसकी आवश्यकता पैदा हो गई। तो मुझको धीरज देते हुए, विश्वास दिलाते हुए स्वामीजी महाराज कहने लगे कि देखो देवकीजी ! सृष्टि के बनाने वाले इतने नासमझ नहीं हैं कि तुम्हारे में जरूरत तो पैदा कर दें और उसकी पूर्ति का इन्तजाम न करें। अरे भाई ! संसार का बनाने वाला कोई मामूली आदमी तो हो ही नहीं सकता है। जिसने सृष्टि बनाई, जिसने हम लोगों को बनाया, उसकी बड़ी मंगलकारिता है कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक तत्त्वों में से बहुत से पदार्थ बना दिये। भौतिक शक्तियों से तीनों शरीरों का निर्माण हुआ और भौतिक तत्त्वों से उनकी खुराक बना दी और आपको बनाया अपने तत्त्व से। तो इसमें शान्ति की आवश्यकता मालूम होती है, स्वाधीनता की आवश्यकता मालूम होती है, परम प्रेम की आवश्यकता मालूम होती है, तो बड़ी बढ़िया बात है।

सन्तवाणी के आधार पर हम लोग बहुत ही आश्वस्त हो सकते हैं कि जिन अविनाशी तत्त्वों की जरूरत हमें महसूस होती है वह सब उस सुने हुए परमात्मा का स्वरूप ही है, जो उसमें विद्यमान है। उसकी हमें लालसा है, जो उसमें विद्यमान है। उसकी हम आवश्यकता अनुभव करते हैं, जो वे स्वयं हैं। उसकी सत्ता पर हमारी सत्ता आधारित है, इसलिये हमारे व उनके बीच में दूरी जो मालूम हो रही है यह केवल मेरी अपनी भूल से मालूम हो रही है। वास्तव में दूरी है नहीं। यह बात पकड़ में आती है ? वस्तुतः दूरी नहीं है। अतः उस भूल को मिटाना मेरा अपना काम है। मैंने ऐसा देखा कि जब मनुष्य अपने सम्बन्ध में अपनी ओर से निश्चय कर लेता है कि अब बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों के पीछे मैं नहीं पड़ूँगा तो जिस दिन से उसने ऐसा निर्णय लिया उसके भीतर से दृश्य का प्रभाव उतर जाता है। और जिस दिन उसने निश्चय किया कि कभी न बिछुड़ने वाले, सदा-सदा के लिये मेरा साथ देने वाले, मेरे परम हितैषी, करुणा-सागर, प्रेमस्वरूप परमात्मा जो हैं, उन्हीं का सहारा लेकर हम रहेंगे, उन्हीं को अपना मानेंगे, उन्हीं के होकर रहना पसन्द करेंगे- ऐसा जिस दिन से साधक अपनी ओर से निर्णय लेता है, उसी दिन से उसके भीतर का अभाव मिटने लगता है। अब प्रत्यक्ष होकर किस दिन आपके सामने आकर खड़े होंगे अथवा किस दिन आपकी वो आँखें खुलेंगी कि उनकी विद्यमानता को देखकर आप आनन्दित होंगे- यह तो मैं नहीं जानती। यह किसी साधक के सम्बन्ध में लकीर नहीं खींची जा सकती। लेकिन यह निश्चय है और इतना मुझको पक्की तरह से मालूम है कि असत् के महत्त्व को जहाँ आपने अस्वीकार किया कि उसका रंग उतर जाता है। बड़ा भारी काम हो जाता है। अनन्त परमात्मा की आवश्यकता आपने अनुभव की तो उसकी विभूतियाँ आपके भीतर तत्काल प्रकट होने लगती हैं। इतना तो मैंने जाना है। तत्काल, देर नहीं लगती और बड़ा भारी अन्तर मुझे मालूम हुआ कि संसार को अपना मानते-मानते उसकी पराधीनता

में, उसके वियोग में आदमी पागल हो जाये, तब भी वह साथ नहीं दे सकता, खोया हुआ मिल नहीं सकता, गया हुआ वापस आ नहीं सकता। यह दशा आ जाती है। और बिना देखे, बिना जाने केवल अपनी आवश्यकता को सामने रखकर गुरु के वाक्यों को सुनकर संतवाणी में श्रद्धा करके, ग्रन्थ के वाक्यों में श्रद्धा करके यदि उनको मान लिया जाता है और उनकी आवश्यकता अनुभव की जाती है तो इतने मात्र से मनुष्य के भीतर का सूनापन मिटने लगता है। अभाव मिटने लगता है। पराधीनता मिटने लगती है। भय और चिन्ता का नाश हो जाता है। ऐसा होता है। बहुत ही स्वाभाविक विकास मनुष्य का होता है। केवल सत्य की स्वीकृति मात्र से। स्वीकृति क्या है ?

जिस समय साधक जीवन के इस सत्य को स्वीकार कर लेता है कि जीवन परिस्थितियों पर आधारित नहीं है। वस्तुओं पर, व्यक्तियों पर, योग्यताओं पर आधारित नहीं है। उस समय उसके भीतर से दृश्यों का सहारा निकल जाता है। तो इसका सहारा छोड़ दिया तो यह अस्तित्वविहीन अपने आप हट जाता है। हमने छोड़ दिया तो छूट गया। हमने पकड़ लिया तो वह पकड़ में नहीं आता है। उसका लोभ, मोह गले का ढोल बन जाता है। न निकाल सको, न बजा ही सको। यह दशा हो जाती है। यह तो हो गई बाहर की बात। और जिस समय सत्य को स्वीकार करके हम बिना देखे, बिना जाने हुए उस नित्य जीवन की आवश्यकता अनुभव करते हैं उस नित्य सम्बन्धी की प्रीति की आवश्यकता अनुभव करते हैं, उस सामर्थ्यवान की कृपा-शक्ति की आवश्यकता अनुभव करते हैं, उसी समय से अहंरूपी अणु में एक अद्‌भुत परिवर्तन आरम्भ हो जाता है।

महाराजजी ने शरणागति के बड़े अच्छे क्रम बताये। व्यक्ति कामनाओं की पीड़ा से हार जाता है, इच्छाओं की अपूर्ति से, प्रियजनों के संयोग से, वियोग से हार जाता है। हारा हुआ व्यक्ति सजग तो होता ही है, चेतना तो उसमें होती हो तो सचेत होकर जब

वह देखता है कि इधर तो कुछ काम लायक है नहीं, तो संतवाणी सुनकर ठान लेता है कि भाई, इधर तो कुछ काम के लायक है नहीं, तो अब हम उसी के सहारे होकर रहेंगे। जब उसे ईश्वर-विश्वास के आधार पर प्रभु की शरणागति लेने की सलाह दी जाती है तो कहा जाता है कि तुम दुर्बल हो, निर्बल हो, असमर्थ हो, भूतकाल में बहुत से अपराध किये हो, दुनिया में कोई तुम्हारा साथी नहीं है, सब सहारे छूट गये हैं तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। तुम जैसे हो वैसे ही सही, बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा को विद्यमान मान करके, स्वीकार करके उसकी शरण ले लो और अपनी ओर से एकबार कह दो, "हे प्रभु ! मैं तेरा।" महाराजजी कहते हैं कि प्रारम्भ में विश्वास-पंथ का जो साधक होता है, वह यही कह सकता है कि हे प्रभु। मैं तेरा, और इसका मुझे पूरा औचित्य मालूम होता है, क्योंकि वे अनन्त माधुर्यवान हैं, तो प्रारम्भ में उनका सहारा लेकर दुःख-सुख के द्वन्द्व में फँसा हुआ व्यक्ति थोड़ा रिलीफ चाहता है, थोड़ी राहत पसन्द करता है।

मैंने महाराजजी से ऐसे ही माँगा था। मैंने कहा था उनको कि बदलती हुई परिस्थितियों में बेबसी में जीना मुझको पसन्द नहीं आता हैं और इनका सामना करते-करते मैं थक गई हूँ, तो महाराज ! मैं कुछ ऐसा अचल आधार चाहती हूँ कि जिसके सहारे सिर टेक करके थोड़ी निश्चिन्तता की साँस ले सकूँ। अपने ढंग से मैंने ऐसे ही उनको बताया था और इसी के उत्तर में उन्होंने अनन्त माधुर्यवान-सर्वसमर्थ प्रभु की शरणागति लेने की बात कही थी। उनका सहारा लेने की बात बताई मुझे। तो आरम्भ होता है ऐसे। फिर आगे चलकर क्या होता है, कि जैसे ही उस नित्य विद्यमान का सहारा व्यक्ति जीवन में स्वीकार करता है तो बड़ी ही विचित्र बात यह होती है कि वह अपने ही भीतर-भीतर बल का अनुभव करने लगता है। निर्भयता का अनुभव करने लगता है। अनाथपन का दुःख तो

तत्काल उसी समय खत्म हो जाता है। पहिले इस रहस्य को मैं जान नहीं सकी। लेकिन साधन-काल में कुछ दिनों के बाद मुझे बहुत सहज लगने लगा। क्यों ? इसलिए कि जिसका सहारा लिया मैंने, वह तो अपने में पहले से विद्यमान है ही। उससे विमुख हो गई थी तो पता नहीं चलता था। उनके प्रिय मित्र ने-स्वामीजी महाराज की मित्रता थी भगवान के साथ-उनके प्रिय मित्र ने मुझे सलाह दी कि उनका सहारा स्वीकार करो। मेरी स्वीकृति मात्र से मुझमें ऐसा परिवर्तन हो गया कि उनकी विद्यमानता का बल मुझको सबल बना रहा है। उनकी सरसता का रस मेरे भीतर के अभाव को मिटा रहा है। उनके दीन-बन्धु होने का स्वभाव जो है, शरणागत वत्सल होने का स्वभाव जो है, उस अपने स्वभाव की कोमलता से ही उन्होंने मुझको सँभाल लिया। सँभालते तो पहले भी थे। जब उनसे विमुख रहता है व्यक्ति, तब भी वही सँभालते हैं। अपने को पता नहीं कि अपने को सँभालने वाला बड़ा समर्थ है। तो उसके सर्वसामर्थ्यवान् होने में विश्वास नहीं किया था तो दौड़-दौड़ करके व्यक्तियों के पीछे आदमी हैरान रहता है। बड़े आदमियों से जान-पहचान करलो तो समय पर काम हो जायेगा। अरे, भाई क्या बड़ा आदमी भाई ? कितना बड़ा आदमी दुनियाँ का होगा। उसको अपनी साँस पर अपना नियन्त्रण होगा क्या ? जो अपने को ही नहीं सँभाल सकता है, तुमको कौनसा सहारा दे देगा ? यह भूल है न। इसी भूल में दीनता, अभिमान, क्षोभ, असन्तोष, अपमान सहते-सहते न जाने कितना समय बिता दिया हम लोगों ने। प्रभु की कृपा से, सन्त की कृपा से अब प्रकाश मिला है, जीवन में चेतना आई है और क्या जानें कौन-सी शुभ घड़ी उदित हुई कि किस प्रकार से आप उस सामर्थ्यवान की शरणागति को पसन्द कर रहे हैं। बड़ी अच्छी बात हो गई।

केवल ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से ही विचार किया जाये तो हमारे आपके लिये बड़े दूर की बात नहीं हैं, कि हम अपने में ही

विद्यमान उनकी सरसता से, उनकी कृपालुता से, उनकी विद्यमानता से, ऐसे अभिभूत हो जाएँ कि बाहर की चिन्ता, बाहर का भय, सब तत्काल समाप्त हो जाये। तो बल बढ़ता जाता है, निर्भयता और निश्चिन्तता बढ़ती जाती है, संदेह मिटता जाता है, विश्वास दृढ़ होता है। साधन काल में सब होता है और इसके बीच में वे परम कृपालु भटके हुए बच्चों को सँभालने के लिये विविध प्रकार की घटनाएँ रचते हैं; लीलाएँ रचते है; जिससे कि नया-नया साधक जो उनके सहारे रहने का साहस करके खड़ा हुआ है उसका बल बढ़ जाये; उसमें दृढ़ता आ जाये। यह सारी जिम्मेदारी प्रभु अपने में रखते हैं और ऐसी बढ़िया-बढ़िया बातें करते रहते हैं, जिसमें कि डगमगाता हुआ विश्वास अचल हो जाये। मनुष्य के व्यक्तित्व को सुगठित रखने के लिये और अपने प्रेम का पात्र बनाने के लिये बहुत-सी कलायें उनको मालूम हैं और बिगड़ी से बिगड़ी हुई जिन्दगी अगर उनके हवाले कर दी जाये एक बार, तो फिर वे छोड़ते नहीं हैं।

मैंने तो संत के पास बैठकर परमात्मा की चर्चा को सुनना इसलिये पसन्द किया था कि मैं प्रयोग करके देखूँगी, अगर मुझे अच्छा लगेगा तो मानूँगी, नहीं तो छोड़ दूँगी। प्रयोगशाला में से निकलकर आई थी और प्रयोग ही करने का विचार था, लेकिन स्वामीजी महाराज बड़े दूरदर्शी थे। अन्तर्दृष्टि थी उनकी, सो देख लेते थे साधक के भीतर। थोड़े-थोड़े दिन में मुझको याद दिलाते रहते थे। देवकीजी, हाथी को गन्ना पकड़ा देना आसान है, उसके मुख से छुड़ा लेना संभव नहीं है। हाथी को गन्ना बहुत पसन्द है न, तो गन्ना उसके मुँह में पकड़ाओ, यह बहुत आसान पड़ता है। वह एकदम लपक कर उसको पकड़ लेता है वह जब खाने लगे, जब उसका मीठा रस चखने लगे, तब उसके मुख में से निकाल लेना चाहो तो यह तुम्हारे बस की बात नहीं है। महाराज कहते कि भैया!

वह पकड़ करके छोड़ना नहीं जानते हैं। तुम चाहो कि एकबार तुमने अपने को समर्पित कर दिया, अब फिर वहाँ से निकलकर भागना चाहो तो यह नहीं होगा। वे छोड़ेंगे नहीं किसी प्रकार से। तुम कितनी भी देर लगाओ, तुम कितना भी कुछ करो, वे पकड़ कर छोड़ना नहीं जानते हैं। यह तो उनके अपने विश्वासी होने की बात थी, भक्त होने की बात थी। मित्रता में इतनी घनिष्ठता हो जाती है कि सारी बातें इस तरह की होने लगती हैं, परन्तु यह सच्ची भी है। बिना किसी प्रकार के सन्देह किये, बिना किसी प्रकार के विकल्प किये, इस सत्य का अनुभव, हम सब लोग कर सकते हैं। जब मैंने सोचा तो मुझे ऐसा लगा कि उनमें इतनी आकर्षण शक्ति है, कि उससे खिंच जाने के बाद कौन उसमें से निकल सकता है ?

इस तुच्छ जड़ जगत् को देखो तो। अगर इसकी सुन्दरता पर लुभा जाओ तो इसके आकर्षण में व्यक्ति ऐसे खिंच जाता है थोड़ी देर के लिए कि कर्त्तव्य को भी भूल जाये, माँ-बाप को भी भूल जाये, उचित-अनुचित को भी भूल जाये। जब उधर से नीरसता मिलती है, ठोकर मिलती है तो फिर इधर आता है। लेकिन उधर के आकर्षण में; उधर की स्मृति में; उधर के सम्बन्ध में तो इतना तारतम्य है कि एकबार जिसने अपनी ओर से अवसर दिया-'हे प्रभु ! मैं तेरा'- उसके बाद फिर कभी हटने का चांस नहीं आयेगा। बल बढ़ता जाता है; रस बढ़ता जाता है; घनिष्ठता बढ़ती है, अपनापन बढ़ता जाता है और फिर आगे चल के उसी साधक में इतना विश्वास बढ़ जाता है कि वह कहने लग जाता है कि 'हे प्रभु ! तू मेरा !' प्रारम्भ में अपनी असमर्थता के कारण, हम आरम्भ करते हैं 'हे प्रभु मैं तेरा'। और आगे चलकर मित्रता-घनिष्ठता हो जाती है तो कहने लग जाते हैं, 'तू मेरा'। इस प्रकार उस सत्य का प्रभाव जो है, हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को शुद्ध बनाता जाता है, हमारी सब विकृतियों को मिटाता जाता है और वह सर्वश्रेष्ठ कलाकार हमारे व्यक्तित्व को अपने प्रेम

का पात्र बना लेता है। फिर जब प्रेम-रस जीवन में भर जाता है तो इसके बाद और कुछ करना शेष नहीं रहता। ऐसा होता है। इतना विकास हम सब भाई-बहनों का इसी वर्तमान में हो सकता है। इस मरणशील शरीर को लेकर नाशवान धरती पर विचरण करते हुए भी इतना विकास हो सकता है। यह मानव-जीवन की बड़ी महिमा है।

थोड़े दिन पहले-करीब दो महीने पहले-महाराजजी का एक प्रवचन मुझे मिला, थोड़ा लिखा हुआ भी था और थोड़ा टेप किया हुआ भी था। बड़ी अच्छी बात मिली उसमें, कौन-सी अच्छी बात ? कि भूतकाल में मैंने जो कुछ भी किया होगा, जो भी उसका दुष्परिणाम बना होगा, सब के सहित उस परम-पवित्र के हवाले अपने को कर दो तो हमारे जन्म-जन्मान्तर के सब अपराधों को मिटा करके, सब अपवित्रता का नाश करके, वे परम-पवित्र बना लेंगे और फिर प्रेम के आदान-प्रदान से हमें मस्त कर देंगे। बड़ी बढ़िया बात है। उत्साह जगता होगा। इस दिशा में पहले भी आपने प्रयास किया होगा विश्वास को दृढ़ करने के लिये और फिर जब नित्य-नियम के समय पूजा-पाठ और ध्यान के समय जब भीतर से रस की उत्पत्ति नहीं होती तब विश्वास-पथ का साधक थोड़ा परेशान होता है। विधि-विधान सब पूरा तो कर देता है, लेकिन थोड़ा परेशान होता है, तब क्या होता है, कि उसको अपनी साधना में ही सन्देह होने लगता है। मुझको भी हुआ था।

समर्पण के बाद अगर चिन्ता होती है तो अपने में अपनी साधना में सन्देह होने लगता है कि मैंने समर्पण का पन्थ भी लिया; भगवत् समर्पित होने की साधना भी ली फिर भी अपने बारे में चितिंत हूँ। ये दोनों बातें तो नहीं होनी चाहिए। ऐसे सन्देह काल में स्वामीजी महाराज से मेरी बातचीत होती रहती थी। मैं अपने सब सन्देह सुनाती रहती थी। एक जगह पर उन्होंने ऐसे बताया है कि देखो भाई ! तुम अपनी साधना में सन्देह मत करो। बिल्कुल ही

सन्देह मत करो। पहली बात तो यही है कि अगर एकबार भी तुमने सच्चाई के साथ कह दिया है कि "हे प्रभु ! मैं तेरा" तो इसके बाद वे छोड़ेंगे नहीं तुमको। ठीक जगह पर लाकर के ही, अपने प्रेम का पात्र बना करके ही रहेंगे, इसलिये डरो मत। दूसरी बात उन्होंने कही है कि देखो, प्रभु में विश्वास करना और मेरा विश्वास दृढ़ हो जाये - इसकी आवश्यकता अनुभव करना, दोनों समान फल रखते हैं। कितनी बड़ी बात हो गई ! उनके प्रेमी हो जाना, हम लोगों के लिए तो बहुत दूर की बात मालूम होती है क्योंकि प्रेमियों ने प्रेम की बड़ी ऊँची कसौटी सुना दी। क्या सुना दिया ? सन्त कबीर ने कहा,

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि।
शीश उतारै भुई धरै, सो पैठे घर माँहि।।

अरे बाबा ! शीश अतारने की हिम्मत न हो तो क्या करें ? अहं का नाश करने की हिम्मत न हो तो उस घर के दरवाजे पर कैसे जाएँ ? और त्याग करना और त्याग के अभिमान का भी त्याग करना - इतनी हिम्मत न हो तो कैसे उनके प्रेमी कहलाएँ ? हम लोगों को बड़े दूर की बात मालूम होने लग जायेगी तो कहीं हम डर न जाएँ, कहीं कदम पीछे न हटा लें, इसके लिये परम कारुणिक संत ने अपने प्रिय मित्र की ओर रहस्य भरी बात सुना दी और कह दिया कि देखो, प्रभु का प्रेमी होना और प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करना - दोनों समान अर्थ रखते हैं। अब तो नाम नहीं कटेगा ? अरे भाई, यह मन तेरा, यह धन तेरा, यह सब कुछ तेरा, मुझ पर तेरा पूरा अधिकार है। मुझ पर मेरा अब कोई अधिकार नहीं है क्योंकि मैंने अब अपने को दे दिया। तो दे देने के बाद फिर अपने पर अधिकार रहता है क्या ? नहीं रहना चाहिये न ? और दे देने के बाद फिर उसको सँम्भालने की जिम्मेदारी रहती है क्या ? जिसको आपने समर्पित कर दिया, दे दिया, उस पर कोई शर्त लगाई जाती है क्या ? कि देखो मैंने दिया है अब तुम सँभाल कर रखना। वह

उठाकर वापस कर देगा कि तुम ले जाओ अपना। तो शर्त नहीं लगाना है, अधिकार नहीं मानना है और ऊँचे-ऊँचे भक्तों ने अपने से यह सब हम लोगों को करके दिखाया।

(72)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

इस व्यक्तित्व में जो भौतिक तत्त्व है, उसे अपना मत मानो, अपने लिये मत मानो, उसे संसार की सेवा में लगा दो तो फिर शरीर की सुरक्षा, शरीर की जरूरतों को पूरा करने की चिन्ता - यह सब अपने को नहीं करना पड़ेगा। अपने सिर पर यह भार नहीं आयेगा। समाज किसी का ऋणी नहीं होता; भगवान किसी के ऋणी नहीं रहते; कर्त्तव्य किसी का निष्फल नहीं जाता। इसका अर्थ यह है कि संसार की वस्तु संसार की सेवा में लगा देने पर उसकी देखभाल का अपने को भार नहीं लेना पड़ता; चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

अपने सम्बन्ध में महाराजजी ने हम लोगों को यह सलाह दी कि अपने को ईश्वर की मर्जी पर छोड़ दो। ईश्वर-विश्वासी जो साधक होते हैं, जिन्होंने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया और ईश्वर की आराधना के द्वारा अपने सर्व-दुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति की प्राप्ति और उनके प्रेमी होना, भक्त होना पसन्द किया, उनके लिये सन्त की सलाह है कि वह फिर अपना करके अपने में कुछ मत रखे। अपने पर अपना कोई अधिकार नहीं है। अपना कोई संकल्प नहीं है। अपनी कोई कामना नहीं है। अपने में किसी गुण का अभिमान नहीं है- इन्ही सब बातों को इकट्ठा करके महाराजजी ने दो-तीन शब्द बताए- अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न।

अकिंचन किसको कहते हैं ? अकिंचन उसको कहते हैं जो

अपना करके कुछ नहीं रखता। किसी वस्तु पर जो अपना अधिकार नहीं मानता - वह अकिंचन है। अचाह कौन है ? जो किसी से कुछ नहीं चाहता। न संसार से, न संसार के मालिक से। यह नहीं कि संसार से कुछ नहीं चाहते हैं, लेकिन भगवान से चाहते हैं, सो नहीं। जो किसी से कुछ नहीं चाहता, वह अचाह होता है। और अप्रयत्न कौन होता है ? जो प्राप्त सामर्थ्य को संसार की सेवा में लगाकर, स्वयं कर्म और कर्त्तापन के अभिमान - दोनों से ही मुक्त रहता है। वह अप्रयत्न होता है। अप्रयत्न का अर्थ यह नहीं होता कि उसके जीवन में निष्क्रियता आ जायेगी, जड़ता और शिथिलता आ जायेगी, निकम्मा हो जायेगा, सो नहीं। अप्रयत्न का अर्थ होता है कि जिसने सब शक्ति भगवान की मानी और सब काम भगवान का माना, और सेवा का अवसर भगवान का दिया हुआ माना। तो प्रभु की दी हुई शक्ति, प्रभु का दिया हुआ अवसर, प्रभु की बनाई हुई सृष्टि की सेवा में लग गया, इसमें मेरा अपना करके कुछ नहीं है - ऐसा जो जानता है, वह अप्रयत्न होता है।

अकिंचन होना, अचाह होना, अप्रयत्न होना जिसे आ गया, वह अपने को भगवान की मर्जी पर छोड़ सकता है। जिन लोगों ने हृदय की भावुकता के आधार पर, हृदय की कोमलता के आधार पर अपने को ईश्वर के समर्पित किया, उन्होंने अपने जीवन में अपना करके कोई सुख नहीं रखा। और जिसको अपना सुख पसन्द है, वह भक्त नहीं हो सकता। ईश्वर-विश्वासी तो हो सकता है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना, बिल्कुल अलग बात है। ईश्वर का भक्त होना बिल्कुल भिन्न बात है। सत्ता में विश्वास बहुत लोग करते हैं और महाराजजी कभी-कभी अपनी विनोदी भाषा में हम लोगों को कह देते थे कि भाई ! ईश्वर में विश्वास तो चोर-डाकू भी करते हैं। जब चलते हैं, चोरी - डकैती करने के लिये, तो ईश्वर को मना के चलते हैं और महाराजजी ने एकबार ऐसे लोगों की बातों को सुना था।

बता रहे थे कि एकबार मैं निर्जन में एक कुटिया में रहता था। अकेले रात्रि के समय बैठा था - दो बजे रात से जगने की आदत महाराजजी की शुरू से ही थी, नई उमर में जब से साधु हुये तभी से, क्योंकि साधना का यही समय सबसे बढ़िया होता है- दो बजे रात को बैठे थे; अपनी साधना में, अपनी आराधना में। तो रास्ते से होकर निकल रहे थे ऐसे ही रात में विचरण करने वाले लोग, आपस में कुछ-कुछ बातें कर रहे थे और डर भी रहे थे कि कुटिया में साधु जग रहा है, कहीं सुन न ले। स्वामीजी महाराज ने सुनी उनकी बात, अब जब वे सामने से निकलने लगे, महाराजजी को देखा। देखने से उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा होगा। कहने लगे कि बाबा ! तुम चुपचाप बैठ करके भजन करो। हम लोग चोर हैं। चोरी करने जा रहे हैं। स्वामीजी महाराज बता रहे थे, ईश्वर में विश्वास करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। चोर भी चोरी करने जाता है तो ईश्वर को मना के जाता है। भगवान उसकी यात्रा सफल करें, अर्थात् जहाँ वो सेंध मारने जा रहा है वहाँ उसकी यात्रा में सफलता हो।

ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से, भगवद् भक्ति की दृष्टि से, महाराजजी के पास आकर मुझे यह सुनने को मिला कि ईश्वर में विश्वास करना बिल्कुल अलग बात है और ईश्वर का भक्त होना बिल्कुल उससे भिन्न बात है। विश्वास तो हम लोगों में से बहुत लोग करते हैं और कभी-कभी मैं सोचती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि शरीर से तादात्म्य रखकर संसार-जनित सुख भोगने वाला व्यक्ति हर बात में अपने को पराधीन और असमर्थ अनुभव करता है और जिसको पराधीनता सतायेगी; जिसको असमर्थता सतायेगी, जिसको असहायपन सतायेगा; वह ईश्वर की सत्ता को माने बिना रह ही नहीं सकता। क्या करेगा और ? कुटुम्बीजनों ने साथ छोड़ दिया। अपने दल के लोगों ने अपनी पार्टी से नाम काट के बाहर निकाल दिया। कमाई हुई सम्पत्ति डूब गई। बड़ा सुन्दर स्वस्थ शरीर रोगी, असमर्थ

हो गया। अब क्या करें ? अब बाहर कोई सहारा नहीं दिखाई देगा, तो हारकर, पछताकर व्यक्ति को एक ऐसे सामर्थ्यवान् में विश्वास करना ही पड़ता है, जो कि ऐसी दशा में भी साथ दे सकता हो।

मैंने ईश्वर में विश्वास क्यों किया था ? बचपन की बात तो जानती नहीं हूँ। माता, पिता, भाई, बन्धु, परिवार के लोग क्या बातचीत करते थे, किस प्रकार का संस्कार देते थे, वो तो अनजान अवस्था की बात मैं नहीं कह सकती। लेकिन मुझको ईश्वर की सत्ता को मानने के लिये इसलिये बाध्य होना पड़ा कि उन्होंने मेरे लिए कुछ योजना ही सोच रखी थी कि मैं तुमको मनवा के ही छोड़ूँगा। जब कोई अपनी ओर से विचार करो, जब कोई अपनी ओर काम करने चलो, जब कोई अपनी ओर से योजना बनाओ, तो अपनी ओर से मेरा सब किया कराया उलटा-पुलटा हो जाता। मैं ऐसा सोचूँ तो हो जाए कुछ दूसरा, मैं ऐसे करूँ तो हो जाए कुछ और, तो मुझे बाध्य होकर के एक सामर्थ्यवान् की सत्ता को स्वीकार ही करना पड़ा कि भाई ! कोई है जरूर, जो मुझसे ज्यादा जबरदस्त है। मैं करना चाहती हूँ कुछ, वह उलट-पुलट कर देता है सब। तो मनुष्य अपने आप में असमर्थता अनुभव करता है, बेबसी अनुभव करता है और जो अपने में असमर्थता अनुभव करेगा, वह एक सामर्थ्यवान् की सत्ता को स्वीकार किये बिना रह ही नहीं सकता है। तो सत्ता को स्वीकार करना एक बात है और उसके प्रेमी होना बहुत ऊँची बात है। बहुत मीठी बात है और बड़े ऊँचे विकास की चर्चा है।

ईश्वर में विश्वास करना-यह तो बहुत मामूली बात है। मनुष्य की रचना में, जहाँ विवेक का बल है, जहाँ शरीर का बल है, वहाँ एक विश्वास करने का तत्त्व भी है। तो जैसे हम लोग बहुत-सी बातों में विश्वास करते हैं, ऐसे ही ईश्वर में विश्वास करते हैं, बिना देखे, बिना जाने भी। तो विश्वास करना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु सन्त ने बताया कि यदि जन्म-जन्मान्तर की नीरसता का नाश ही

करना चाहते हो, यदि सदा-सदा के लिए अपनी असमर्थता को मिटा ही देना चाहते हो, यदि जन्म-मरण की यातनाओं का अन्त ही करना चाहते हो; यदि परम-प्रेम से अपने को भरपूर करना ही चाहते हो; तो ईश्वर के प्रेमी बनो। और ईश्वर प्रेमी बनने का अर्थ क्या है ? कि अपने को उसकी मर्जी पर छोड़ दो। यह ईश्वर-विश्वासी से बहुत ऊँची चीज है।

हम लोगों में से बहुत से भाई-बहिन ऐसे बैठे हैं, जो किसी न किसी कारण से ईश्वर में विश्वास तो करते ही हैं। अब साधन की दृष्टि से भक्ति-पथ के साधकों के लिये सन्त की सलाह यह है कि विश्वास करो और उसके आगे एक बात और रख लो कि केवल उसी में विश्वास करो। यहीं पर आकर कठिनाई पड़ जाती है। ईश्वर में विश्वास करो और अगर भक्त होना चाहते हो, उनकी कृपालुता, महिमा के भरोसे सदा के लिये निश्चिन्त और निर्भय होना चाहते हो, तो विश्वास करो और केवल ईश्वर में विश्वास करो। ईश्वर-विश्वास के साथ फिर अन्य विश्वास मत रखो। अब यहाँ से भक्ति-पथ की साधना का आरम्भ होता है। ईश्वर-विश्वास किया, यह तो बहुत सामान्य स्तर की बात है और स्वभाव की बात है, परिस्थिति की बात है; बनावट की बात है; इसमें कोई विशेषता नहीं है। लेकिन अगर हम लोग विशेषता लाना चाहते हैं और अनेक ईश्वर-विश्वासियों ने जैसा कहा, संत कबीर ने कहा --

"भगतबछल हरि नाम सुन, दियो कबीरा रोय।
अधम उधारन नाम सुन, गयो कबीरा सोय।"

सन्त कबीर ने सुना कि प्रभु भक्तवत्सल हैं, उनको रोना आ गया। रोने लग गये कि मैं भक्त होऊँ तब तो उनकी भक्तवत्सलता मेरे काम आवे। बड़ी कठिन शर्त हो गयी। उन्होंने फिर सुना कि नहीं-नहीं भगवान केवल भक्तवत्सल नहीं हैं, भगवान् अधम-उद्धारन भी है, तब कबीर तान करके सो गये। अब बात बन गई। केवल

भक्तवत्सल होते तब तो मेरे लिये मुश्किल था भाई, भक्त हो पायें, तब उनका सम्बन्ध जुटे। नहीं-नहीं, केवल भक्तवत्सल नहीं है, वे तो अधम-उद्धारन भी हैं। तब निश्चिन्त हो गये। दूसरे भक्त ने कहा,

"माला जपूँ न कर जपूँ, मुख से कहूँ न राम,
हरि मेरा सुमिरन करैं, मैं पायो विश्राम।"

एक दूसरे भक्त ने कह दिया, उसको मिल गया विश्राम। उसने कविता करने का मजा लेने के लिये यह बात नहीं कही थी। उनके लिये उनके जीवन का सत्य हो गया था। किसी प्रकार की क्रिया का कोई लेश नहीं है ईश्वर की भक्ति में। मुख से राम कहना जरूरी नहीं है। मन में, तन में रम रहा है। कहेंगे क्या ? जिस प्रकार उनको निश्चिन्तता आ गई; जिस प्रकार उनको निर्भयता आ गई, जिस प्रकार उन्होंने अपने आप में इस बात का अनुभव कर लिया, इस तरह की बातें हम लोगों को सुना दीं।

मैंने सन्त शहंशाहजी की जीवनी पढ़ी थी। उसमें उन्होंने पैतृक सम्पत्ति जो दी है सत्संग-भवन बनाने के लिये, सत्संगी लोगों के लिए दान कर दी, अब रख कर क्या करेंगे, अचाह हो गये थे। स्वयं कृतकृत्य हो गये थे। भगवान के साथ उनका सीधा सम्बन्ध हो गया था। अब दुनिया की सम्पत्ति रखकर क्या करेंगे ? उन्होंने अपने भतीजे से सलाह की, बड़ी प्रशंसा लिखी है भतीज़े की, कि उसने बड़ी उदारता की, मैंने ऐसे कहा तो उसने मान लिया। भतीजा नहीं मानता तो उसका हक होता न, तो आधा बाँटना पड़ता। बहुत सम्पत्ति नहीं थी तो उसने मान लिया। तो दिया है उन्होंने, और जो कागज लिखा जाता है, सरकारी लिखा-पढ़ी होती है, उस कागज में जब लिखने के लिए उनसे कहा गया तो उनको तो और कुछ सूझा नहीं, बड़ी अच्छी अंग्रेजी भाषा में चार पंक्तियाँ लिख दीं- लिखा हुआ है- 'My property all is truth and peace. All struggle of life in me do cease. I care for God. He cares for me, My thoughts

and actions are entirely free.* ये लिखा है उसमें। ऐसा मजा आया मुझ को पढ़ कर के। लिखा उन्होंने, मेरी जितनी सम्पत्ति है वह सत्य और शान्ति है। और मेरे भीतर का जितना संघर्ष था वह अब समाप्त हो गया है। अशान्ति मिट गई ना। ममता का भार चला गया। कामना का विकार चला गया। बेचैनी तो रही नहीं। मेरे भीतर जितना संघर्ष था वह सब खत्म हो गया। अब कुछ नहीं है। और बिल्कुल बेपरवाह।

स्वामीजी के साथ उनका काफी घना परिचय था। महाराज कहते, अगर उनको कभी किसी चीज की जरूरत पड़ी, उन्होंने कभी किसी से माँगा नहीं, दुकानों में घुस जाते और दुकानदार से कहते, अरे देख, यह मैं उठा रहा हूँ, कह करके जो लेने का मन हो, उठा करके वहाँ से चल देते। ठीक जैसा कि उन्होंने अपने में अनुभव किया कि मैं भगवान को प्यार करता हूँ और भगवान मुझको प्यार करते हैं। मेरा उनसे जब इतना सीधा सम्बन्ध हो गया, और अपने में भगवान से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुभव हो गया, तो वे बिल्कुल निर्भय, निश्चिन्त हो गये, बिल्कुल निर्भय निश्चिन्त, ऐसे फक्कड़ और इतने निर्द्वन्द्व रहने वाले वे सन्त। जिन लोगों ने उनका निकट सम्पर्क पाया है वे ही इस आनन्द को जानते हैं। हम लोगों में से जितने भाई-बहिन यहाँ बैठे हैं, ईश्वर में विश्वास भी करते हैं, और ईश्वर-विश्वास के माध्यम से जीवन को सफल बनाना भी चाहते हैं। और यह भी चाहते हैं कि चिन्ता भी छूट जाये, दुःख भी मिट जाए, आवागमन की चिन्ता भी छूट जाए, और हृदय में प्रेम भी भर जाये, ईश्वर से मेरा साक्षात्कार हो जाये, ईश्वर का प्रेमी मैं हो जाऊँ, मेरे प्रेम भरे जीवन से, मेरे प्रेमपूर्ण पूजन से; मेरी प्रियता भरी आराधना से, भगवान को भी आनन्द आ जाए- इस तरह की अभिलाषा रखते हैं। इस प्रकार की अभिलाषा रखने वाले साधकों के लिए सन्त ने यह सलाह दी कि भाई, ईश्वर के प्रेमी होना चाहते

हो और प्रेम-पन्थ के माध्यम से जीवन को सफल बनाना चाहते हो, तो फिर अपने को ईश्वर के संकल्प पर छोड़ दो, संसार से भी कुछ मत चाहो, ईश्वर से भी कुछ मत चाहो।

एक बार स्वामीजी महाराज से ईश्वर के सम्बन्ध को सजीव बनाने की चर्चा कर रही थी। मुझको निर्जीव ईश्वर-भक्ति पसन्द नहीं आती है। ऊपर से सब विधि-विधान से पूजा भी किये जा रहे हैं, सब करते जा रहे हैं, और सचमुच जो नित्य निरन्तर दिव्य चिन्मय अविनाशी तत्त्व मुझमें ही विद्यमान है, उसके साथ अपना अगर कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम होता, उसकी विद्यमानता का अपने को आभास नहीं मिलता, उसकी विभूतियों से अपना अनुभव शून्य है; उसके प्रेम से अपना हृदय शून्य है; तो केवल routine वाला, विधि-विधान, क्रियाकलाप वाला साधन, मुझको बिल्कुल भी पसन्द नहीं था। जब तक भीतर से कुछ लगाव न मालूम हो तब तक ऊपर से मैं उसका नाम लेती रहूँ- ऐसा साधन मुझको बचपन से ही पसन्द नहीं था। मैं बहुत छानबीन किया करती थी, तीन-पाँच लगाया करती थी, कितना भी स्वामीजी महाराज हृदय की कोमलता से सत्य को कहते जाएँ। भक्त की वाणी में भगवान की महिमा होती है।

महाराजजी के सामने जब कभी मैं अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कोई त्रुटि जनक बात कहूँ, कुछ और बताऊँ तो महाराजजी को अच्छा नहीं लगता था। एकदम इन्कार करते थे। कहते थे कि देखो भाई ! मैं रचयिता में तो दोष स्वीकार कर नहीं सकता। उन्होंने रचना में तो कोई कमी रखी नहीं है और आप अब अपनी भूल से प्रकार-प्रकार के दोषों का वर्णन करती रहो तो इसके लिये मैं रचयिता को दोषी नहीं बना सकता। पहले तो उनकी ओर से अच्छी तरह से मुझको समझा देते, फिर मैंने देखा कि भक्त की वाणी में भगवान की महिमा भरी रहती है, हर समय, बारम्बार, स्वामीजी महाराज ने मेरा ध्यान ईश्वर की महिमा पर ही दिलाया। जब कभी

मैं, ईश्वर की महिमा को स्वीकार करने से पहले की बात, अपनी तैयारी की चर्चा करूँ, तो उसमें एकबार बहुत ही सजीवता के साथ महाराजजी ने मुझसे यह कहा कि देवकीजी ! तुम परमात्मा से कुछ माँगना मत। तो माँगने का मतलब क्या ? मेरे सामने धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा माँगने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। यह सब तो सूची में से पहिले ही कटा दिया था महाराज ने, अब माँगने का रह गया था कि मुझमें बल दे दो। किस बात के लिये ? कि हम अपनी यह सफाई कर लें, कि हम अपना यह झाड़-पोंछ कर लें- फिर बड़े-बड़े भक्तों के चरित्र में जो ईश्वर की विभूतियों का दर्शन हुआ करता है, उस पर भी दृष्टि जाती है। महाराजजी ने मुझसे कहा कि देखो, तुम उनसे कुछ माँगो मत। क्यों ? एक बात तो सबके लिये सामान्य रूप में उन्होंने कहा कि जो साधक को चाहिए, सबको बिना माँगे देते हैं। जानते हैं कि किसको क्या चाहिये। जिसको जो चाहिये बिना माँगे दे देते हैं, तो उनसे माँगने का अर्थ क्या है ?

दूसरी बात उन्होंने जो निम्न स्तर की, जो हम लोगों की दशा होती है उसके बारे में कहा कि देखो सारे संसार की सुखद सम्पत्ति से कहीं ऊपर ईश्वर का विश्वास है और ईश्वर-विश्वास का ऊँचा से ऊँचा फल, ईश्वर के प्रति प्रेम है। जीवन की जो सबसे ऊँची उपलब्धि है, उसके मार्ग पर चलते हुये, जीवन में जो सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है ईश्वर का विश्वास और ईश्वर का प्रेम उसको अपनाने के बाद, फिर तुमने अगर कोई संसार की वस्तु माँगी तो इससे बढ़कर घाटा और कुछ नहीं हो सकता। सारे संसार के वैभव से अधिक मूल्यवान है मनुष्य के जीवन में ईश्वर के प्रति प्रेम, और ईश्वर के प्रेमी होकर फिर संसार माँगना, इससे बढ़कर घाटा और कुछ हो नहीं सकता। इसलिये तुम ईश्वर से कुछ माँगना मत। मैं चुप हो गई, सोचने लगी कि देखें सन्त की कही हुई इस बात को मैं पकड़ सकती हूँ कि नहीं। मुझको सोचते हुये देखकर महाराजजी ने एक

बात और कही कि देखो, परमात्मा परम उदार हैं, उनसे बढ़कर उदार और कोई नहीं है। उस परम उदार से तुम कुछ माँगो मत। मानव जब अपनी दुर्बलताओं के साथ, अपनी सीमाओं के साथ, अपनी असमर्थता के साथ, अनेक प्रकार की त्रुटियों को लिये हुये, प्रभु का प्रेमी होने की अभिलाषा रखता है, तो उस मानव के हृदय के प्रेम के भाव का प्रभु बहुत आदर करते हैं। यह एक रहस्य है। हम लोग जब अपनी ओर से साधक होना स्वीकार करते हैं, ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ना स्वीकार करते हैं, ईश्वर के भक्त होने की अभिलाषा रखते हैं, तो प्रारम्भ में शुद्ध, निर्मल, कोमल, ईश्वर के प्रेमी होने लायक पात्र थोड़े ही होते हैं। बहुत तरह की बातें रहती हैं। कितना तो किया कराया, पीछे का भोगा हुआ, कितना विकार, कितना राग, कितना द्वेष, कितनी दुष्कृति हमारे संग लगी हुई होती है। फिर भी, महाराजजी ने कहा कि देखो, ऐसी दशा में भी एक बार जब साधक उनके प्रेमी होने की अभिलाषा रखता है, तो भगवान उस अभिलाषा का बड़ा आदर करते हैं। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा पर बिना किसी प्रकार के लाभ की आशा लिये हुये भगवान से भी बिना कुछ माँगे हुये, केवल उनके प्रेमी होने के लिये साधक जब तैयार हो जाता है, जो वे परम उदार जब अपनी उदारता का दरवाजा खोलते हैं और उस साधक को अपनी विभूतियों से भरपूर करने लगते हैं, तो तुम कल्पना नहीं कर सकती हो कि वे कितना दे डालेंगे। बड़ी ऊँची बात है। बहुत रहस्य की बात है। उनके भक्त को उनकी महिमा में आस्था रखनी चाहिये। उनके विश्वासी को उनकी आत्मीयता पर निर्भर करना चाहिये। उनके शरणागत, उनके समर्पित साधक को उनकी शरणागत वत्सलता में आस्था रखनी चाहिये और वह जितना घना है; वह जितना गहरा है; वह जितना ऊँचा है; वह जितना सरस है; उतने का न हम अनुमान लगा सकते हैं; न कल्पना कर सकते है; न किसी पुरुषार्थ से पा सकते हैं।

परमात्मा के प्रेमी होने के लिये, परमात्मा के संकल्प में, अपने सभी संकल्पों को मिलाकर सदा-सदा के लिये निःसंकल्प हो जाना भक्ति-पंथ के साधकों का साधन है। अब आप पूजा करने मन्दिर में जायेंगे, कि नमाज पढ़ने मस्जिद में जायेंगे, कि प्रार्थना करने गिरजाघर में जायेंगे, कि पाठ करने गुरुद्वारे में जायेंगे- मानव सेवा संघ इस सम्बन्ध में आपके विश्वास, आपके विधि-विधान में, बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करता। जो आपका विश्वास है, जो आपका विधि-विधान है, जो आपका ढंग तरीका है, आप अपने पथ का, अपनी training का, अपनी शिक्षा-दीक्षा का, अपने सम्प्रदाय का अक्षरशः पालन कीजिये। नहीं कीजियेगा, तो वो भी आपके लिये घाटा होगा। मानव सेवा संघ कभी नहीं कहेगा कि गिरिजाघर में जाना छोड़ दो, कि मन्दिर में जाना छोड़ दो, कि गुरुद्वारे में जाना छोड़ दो, कि मस्जिद में जाना छोड़ दो, इससे कोई अर्थ नहीं निकलता। क्योंकि ईश्वर की भक्ति जो है, वह तो हृदय की बात है। ईश्वर का विश्वास जो है, वह आपके अपने जीवन की बात है और ईश्वर को समर्पण जो है कि ईश्वर के आगे अपने को समर्पित कर देना, वह आपकी अपनी बहादुरी की बात है। अब ये बहादुरी आप मन्दिर में जा कर करेंगे कि मस्जिद में जाकर करेंगे, कोई अन्तर नहीं आयेगा। अगर आपने अपनी ओर से यह फैसला ले लिया कि जिसने मुझे बनाया, जिसने माता-पिता की सेवा करने के लिये, समाज के अधिकारों की रक्षा करने के लिये, राष्ट्र के अधिकारों की रक्षा करने के लिये सामर्थ्य दे दिया, जिसने संसार के बन्धन से मुक्त होने के लिये, विवेक का प्रकाश दे दिया, मैं तो अब अपने सहित अपने पास जो कुछ है, उस परम-प्रेमी, उस परम उदार पर न्यौछावर करता हूँ- यह फैसला आपने लिया तो चाहे मन्दिर में बैठकर लीजिये, चाहे मस्जिद में बैठकर लीजिये, मन्दिर और मस्जिद के बाहरी रूपों से कोई अन्तर नहीं आता, आपके जीवन में आमूल-परिवर्तन लाने वाला आपका यह फैसला है। ईश्वर के साथ सीधा सम्बन्ध जुटाने वाला

आपका यह साहस है। बिना देखे, बिना जाने हुये पर बिना किसी शर्त के अपने को छोड़ देना- यह बहादुरी आप ही कर सकते हैं, और आपकी इसी बहादुरी पर भगवान अपने को न्यौछावर करते हैं।

मैंने वैष्णव-सम्प्रदाय की एक गूढ़ रहस्य की बात सुनी। महाराजजी ने कहा कि वह परमात्मा, वह परम तत्त्व, वह दिव्य चिन्मय, अनन्त, मनुष्य के हृदय के प्रेमभाव को वरण करने के लिये लालायित रहता है। कहते-कहते महाराजजी ने यह कह दिया कि जिस प्रेमभाव को ग्रहण करने के लिये ब्रह्म अपना ब्रह्मभाव छोड़कर जीव भाव स्वीकार कर लेता है, उस ब्रह्म के प्रेम को पाने के लिये तुम अपनी तुच्छ कामनाओं को भी नहीं छोड़ सकते। यह कहा। ब्रह्म अपना ब्रह्म भाव छोड़कर जीव भाव को स्वीकार कर लेता है तुम्हारी बराबरी में आकर, तुम्हारा मित्र बनकर; तुम्हारा पुत्र बनकर; तुम्हारा सखा बनकर; तुम्हारे हृदय के प्रेम-भाव को ग्रहण करने के लिये, उसका आस्वादन करने के लिये। तो ब्रह्म अगर ब्रह्मपद को छोड़ सकता है मानव-हृदय के प्रेम-भाव को लेने के लिये, तो क्या हम लोग अपनी तुच्छ कामनाओं को नहीं छोड़ सकते, उस बह्म को आनन्द देने के लिये ?

मानव सेवा संघ का ईश्वर वाद, मानव सेवा संघ की भक्ति-भावना विश्व-व्यापी है। यह साम्प्रदायिक सीमाओं में बँधा हुआ नहीं है। किसी को अपना पन्थ छोड़ने को नहीं कहता। किसी को नया पन्थ पकड़ने को नहीं कहता। जो जैसा है, जहाँ है, ठीक है। यह जीवन का सौदा है, बाकी बाहरी बातें तो बाहर की हैं। इसलिये इसमें कोई भेदभाव है ही नहीं।

महाराजजी से किसी ने पूछा, भगवान ने सृष्टि क्यों बनाई ? तो महाराज ने कहा, मेरे लिये। आदमी बड़ा आश्चर्यचकित हो गया कि यह क्या बात ? महाराज ने कहा, बिल्कुल ठीक कहता हूँ, भगवान ने सृष्टि बनाई थी मेरे लिये, मुझको बनाया था अपने लिये।

बाइबिल की कथा मैंने खूब पढ़ी है, बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथायें हैं। भगवान ने मनुष्य को बनाकर, जैसे एक समर्थ पिता अपनी सन्तान के लिये सब कुछ सुन्दर से सुन्दर, बढ़िया से बढ़िया, सुखद से सुखद कर देना चाहता है, बाइबिल की कथा में इसी प्रकार से सब कुछ लिखा है। भगवान ने मनुष्य को बनाया और बड़ी सुन्दर धरती, खूब सुन्दर आकाश, ऋतुएँ, वर्षा, हवा, और अन्न, फल-फूल कि किस तरह से मेरी सन्तान इस सृष्टि में जाकर आनन्दित होकर रहे- ऐसा सब उन्होंने किया। कभी-कभी मैं वस्तुओं को लेकर परमात्मा की पूजा के लिये, बाह्य रूप से भी और अन्तर से भी प्रवृत्ति में लगती हूँ तो भीतर-भीतर मुझे लगता है कि अरे, परमात्मा ने तो यह सब बना दिया था तुम्हारे लिये, उनको यह सब थोड़े चाहिये। ये सब तो तुम्हारे लिये बनाया था। इन भौतिक तत्त्वों को छोड़ दो, सब वस्तु सामग्री भेंट में जो हम लोग ले जाते हैं, इन सब भौतिक तत्त्वों को छोड़ दो। तुमको तो उन्होंने एक अपनी अलौकिक विभूति देकर के रचा था, तुम्हारे पास जो परमात्मा का दिया हुआ एक अलौकिक हृदय तत्त्व है, इसके लिये वह परमात्मा लालायित रहता है। तो तुम उनको अपने को दो और जो वस्तु सामने आती है उन वस्तुओं के द्वारा उनकी सृष्टि में प्राणियों की सेवा कर दो। वस्तु लेकर क्या करेंगे भगवान ?

कभी-कभी सोचने से ऐसा लगता है कि जिसके संकल्प मात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना हो जाती है, वह मेरी वस्तुओं को लेकर क्या करेगा ? वस्तु की जरूरत उसे नहीं है। उसे तो चाहिए, हमारे हृदय का प्रेम-भाव। प्रेम-भाव जो है, वह लौकिक वस्तु नहीं है और साधक का अहम् (मैं-पन) जिसको हम लोग 'मैं-पन' कहते हैं-यह 'मैं-पन' का भास जो होता है, यह सीमित अहम् साधक का, जब प्रेम की धातु में परिवर्तित हो जाता है, तभी प्रेमास्पद से उसका मिलन होता है। तो हम लोगों के पास यही एक अलौकिक

तत्त्व है, जिसको पाने के लिये वह परमात्मा लालायित रहता है।

हम सब लोग, सचमुच यदि भक्त होना चाहते हैं तो उन्हीं का दिया हुआ यह हृदय तत्त्व जो है, इसी को जड़ता से रहित, कठोरता से रहित, विकारों से रहित बनाने के लिये पुरुषार्थ करें, और जब यह उनके प्रेम का पात्र हो जायेगा, तो वे स्वयं इसको अपना लेंगे, वे स्वयं इसको अपनी अनन्त मधुरता से भर देंगे। उनकी ओर से जब उनकी विभूतियाँ साधक के व्यक्तित्त्व में बरसने लगती हैं, भरने लगती हैं, तब उसका कोई अन्त नहीं होता, कोई सीमा नहीं होती। अपने को छोड़ दो ईश्वर की मर्जी पर- इसका यह अर्थ मैंने समझा। अब समय पूरा हो गया।

(73)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव जीवन का एक बड़ा ही रहस्य है और वह यह है कि जो जीवन का मौलिक तत्त्व है, जो सत्य है, जिसकी हम सभी भाई-बहिन आवश्यकता अनुभव करते हैं, वह हमारे लिए अलख-अगोचर-अगम्य है, समझ में नहीं आता। और ज्ञानेन्द्रियों से- आँख, नाक, कान, इत्यादि इन्द्रियों से-जो देखने में आता है, वह किसी की पकड़ में नहीं आता। जो है, जिससे कभी सम्बन्ध-विच्छेद सम्भव नहीं है, वह अलख, अगोचर, अगम्य होने के कारण से अपने लिये बड़ा ही दुरूह मालूम होता है। अपने से बहुत दूर मालूम होता है, बहुत रहस्यमय और छिपा हुआ मालूम होता है। और जो दृश्य जगत् कभी किसी की पकड़ में नहीं आया, वह प्रतीत हो रहा है।

अब अपने सामने पुरुषार्थ क्या है ? जिसकी प्रतीति हो रही है, जिसमें स्थिति नहीं है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, उसके प्रभाव को अपने जीवन पर से हटा दिया जाये-यह पुरुषार्थ है हम

लोगों का। दृश्य जगत् किसी की पकड़ में आता नहीं है। पांच-भौतिक तत्त्वों से रचे हुए शरीर किसी की पकड़ में रहते नहीं हैं। अपने स्वभाव से बनना, बदलना, बिगड़ना और मिटना-अनवरत क्रम चल रहा है- निर्माण और विनाश का। किसी भी क्षण में निर्माण और विनाश के क्रम में कोई रुकावट नहीं आती है, न किसी प्रकार लाई ही जा सकती है। इसके प्रभाव में हम स्वयं फँस जाते हैं। कौन-सा प्रभाव ? शरीर बना रहेगा, तो दिन सुख से कटेंगे। बना रहेगा-इसका तो कोई आधार नहीं है। स्वयं हम देख भी रहे हैं कि यह जो बदलता ही जा रहा है; छूटता ही जा रहा है। एक शरीर जो अपने पास है, इसके समान न जाने कितने शरीरों का नाश प्रतिदिन हो ही रहा है। इस बात को जानते हुये भी, इस शरीर के माध्यम से, सुख लेने का प्रलोभन अपने भीतर हम रखते हैं, इसलिये शरीर से तादात्म्य नहीं तोड़ पाते। इसकी आसक्ति नहीं छोड़ पाते, तो इसके नाश के भय से भी अपने को मुक्त नहीं कर पाते। इस बनने-बिगड़ने वाले शरीर को अपना मानने से इसके स्वभाव में कोई फर्क होता है ? नहीं होता है। वो जैसा है, वैसा है।

अब प्रतीत होने वाले जगत् के साथ अपने को क्या करना है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। अनुभवी सन्त की वाणी में, मैंने ऐसा सुना कि जगत् के साथ सम्बन्ध रखना भी साधन रूप बन सकता है, और सम्बन्ध तोड़ना भी साधन रूप बन सकता है। यह बात हम भाई-बहिनों के लिये बहुत उपयोगी है। इसलिये इस पर विचार कर लिया जाये। अनुभवी सन्त कहते हैं कि संसार के साथ सम्बन्ध मानना साधन रूप हो सकता है-शरीर-धर्म के पालन से। शरीर क्या है ? जगत् का एक छोटा नमूना है। जिसकी उत्पत्ति हो, जिसमें परिवर्तन हो, जिसका नाश हो, उसी को संसार कहते हैं। तो यह लक्षण शरीर पर भी घटित हाते हैं। इसकी उत्पत्ति हुई है, इसमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, और उसका विनाश भी अवश्यम्भावी

है। इस दृष्टि से शरीर भी संसार ही है। संसार का एक छोटा नमूना है। इसको लेकर जब इस जगत् में हम रहते हैं, तो हमारे लिये शरीर और संसार के सम्बन्ध को निभाना, साधन रूप होना चाहिए।

साधन रूप होने का अर्थ क्या है ?- कि इन दोनों के सम्बन्ध के निर्वाह में मेरा अपना उत्थान हो जाना चाहिए। ठीक है ? अब उपाय कैसे करें ? कैसे सम्बन्ध को निभायें ? बहुत सीधी-सादी सहज-सी बात है। आपको आवश्यकता है, अविनाशी जीवन की। शरीर और संसार दोनों सजातीय हैं अर्थात् दोनों नाशवान स्वरूप के हैं। इसलिये इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वाह तो अपने को करना है, लेकिन अपने लिये इन दोनों की आवश्यकता नहीं है। दोनों का निर्वाह कैसे होता है ? जो लोग शरीर को संसार की धरोहर मान लेते हैं, भौतिकवादी दृष्टिकोण से जो व्यष्टि और समष्टि की एकता को स्वीकार कर लेते हैं, उनके लिये सहज होता है कि वे शरीर और संसार के सम्बन्ध का सुन्दर निर्वाह कर सकें।

यह मेरा नहीं है, यह मेरे लिये नहीं है, यह मेरे काम नहीं आ सकता है- यह भौतिकवाद का सिद्धान्त है; व्यष्टि और समष्टि की एकता का सिद्धान्त है। जब शरीर और संसार की सजातीयता है, दोनों को एक-दूसरे से अलग कर ही नहीं सकते हैं, तो एक शरीर को अपना मानना और अन्य शरीरों को पराया मानना- इसी भ्रम से हम एक शरीर की आसक्ति में फँस जाते हैं और एक को सुख देने के लिये, एक को बनाए रखने के लिये अनेकों की हानि पहुँचाने में हिचकते नहीं हैं। परिणाम क्या होता है, कि अपने भीतर राग और द्वेष आ जाता है। राग-द्वेष के विकार से अनेकों असाधन जीवन में आ जाते हैं। इस भूल को मिटाये बिना किसी भी प्रकार की कोई विध्यात्मक साधना सिद्ध नहीं होती। जिस जीवन में राग-द्वेष रहेगा, उसमें विश्व जीवन के साथ एकता नहीं बनेगी, विश्व-प्रेम ज़ीवन में

नहीं उपजेगा। जहाँ राग और द्वेष रहेगा, वहाँ अहं का नाश नहीं होगा। सीमित अहं के मिटाये बिना अमर जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होती। सीमित अहं भाव के मिटाये बिना निजस्वरूप में स्थिति नहीं होती। जिस हृदय में राग-द्वेष का विकार रहेगा उस हृदय में परम-पवित्र प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती।

अब देखिए। यह बात जब ठीक है तो पहला पुरुषार्थ अपना क्या है, कि हम सब लोग सत्संग के प्रकाश में, 'शरीर धर्म' का और 'स्वधर्म' का पालन करें। शरीर धर्म क्या है ? पहली बात कि शरीर में बल है तो संसार को मदद देना, सहयोग देना, किसी को क्षति न पहुँचाना और अगर अपने पास बल नहीं है, क्रियात्मक सहयोग नहीं दे सकते तो भावात्मक सेवा करना। भावात्मक सेवा क्या है ? सबके प्रति सद्भाव- हे प्रभु ! सबका कल्याण हो, हे संसार ! तुम्हारा कल्याण हो, हे संसार ! तुम कुशल से रहो।

एक अच्छे थियोसोफिस्ट सन्त मिले थे मुझे, उन्होंने एकबार कहा था कि देखो, संसार पर दृष्टि जाए और किसी के लिए कोई भी सेवा करते न बने तो कम से कम इतनी सेवा अवश्य करना कि तुम्हारे भीतर से, हृदय से, संसार के प्रति कल्याण की भावना उपजती रहे बारम्बार। हे प्रभु ! संसार का कल्याण करो। सभी उन्नतिशील हो जाएँ; सभी प्रसन्न रहें - ऐसी सद्भावना रखो। सद्भावना और सहयोग के द्वारा संसार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन-शरीर धर्म का पालन कहलाता है।

जब मैंने सामाजिक दृष्टि से और भौतिकवाद की दृष्टि से मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर विचार किया तो मुझे ऐसा लगा कि बड़ी बड़ी योजनायें मानव समाज में विश्वशान्ति को सुरक्षित रखने के लिये बनाई जाती हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद U. N. O. की स्थापना हुई। इतनी बड़ी संस्था बनाकर संसार के बड़े-बड़े विचारशील और हृदयशील व्यक्ति सोचते हैं कि यहाँ बैठकर विचार से हम

संसार की शान्ति को सुरक्षित कर लेंगे। तो बीसों बरस बीत गये। श्रीमती कृष्णमैनन उसकी Secretary थीं। एकबार वह हमारे विश्वविद्यालय में आईं तो हम लोगों ने उनसे पूछा कि संयुक्त राष्ट्र संघ में बैठकर विश्वशान्ति को सुरक्षित रखने के लिये आप लोगों ने क्या सोचा है ? तो कहने लगी कि सोचने से ऐसा मालूम होता है कि बाहर से युद्ध होता है पीछे और युद्ध की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर राग-द्वेष की प्रवृत्ति में होती है पहले। अब क्या करियेगा ? मनुष्य के हृदय में से, राग-द्वेष निकल जाए-यह बात किसी कानून से हो सकती है क्या ? इस पर हमने सोचा तो ऐसा लगा कि यह बात तो सत्संग के प्रकाश में सिद्ध हो सकती है। मनुष्य, मनुष्य होकर, अविनाशी जीवन की अभिलाषा लेकर, परम-प्रेमास्पद प्रभु के प्रेमी होने की अभिलाषा लेकर अपने हृदय को राग-द्वेष से मुक्त कर सकता है। व्यक्ति स्वयं चाहे तो ऐसा कर सकता है। कोई दूसरा तो कर नहीं सकता।

अब सोचिये, कि हम लोग अपने को सामाजिक व्यक्ति कहते हैं और विश्वशान्ति की सुरक्षा में हाथ बँटाना चाहते हैं, तो ऐसा करने में, पहिले स्वयं को शुद्ध करना पड़ेगा। अपने भीतर के राग-द्वेष को जो मिटा सकेगा, वही विश्वशान्ति में कुछ सहयोग दे सकेगा। जो व्यक्तिगत शरीर की आसक्ति में बँधा हुआ है, जो एक शरीर की रक्षा में अनेकों की हानि सह सकता है, उसके द्वारा विश्वशान्ति कैसे सुरक्षित होगी ? नहीं हो सकती है। मुझे तो मानव-जीवन की सभी समस्याओं का समाधान एकमात्र सत्संग के प्रकाश में मिला। चाहे कोई सामाजिक समस्या हो, चाहे व्यक्तिगत, चाहे भौतिक स्तर पर हम कुछ काम करना चाहें, चाहें आध्यात्मिकता और आस्तिकता के आधार पर अपने को धन्य करना चाहें, किसी भी रूप में आप मनुष्य हैं तो मनुष्य से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी समस्यायें हैं, सत्संग के प्रकाश में ही सुलझ सकती हैं।

अनुभवी सन्त ने हमें सलाह दी कि तुम्हारे पास कुछ भौतिक तत्त्व हैं और कुछ अलौकिक तत्त्व हैं। जो भौतिक तत्त्व हैं, उनको लेकर तुम भौतिक जगत् की सेवा में लगा दो। तो हमारा शरीर धर्म क्या हो सकता है ? दृश्य जगत् को सहयोग देना और उसके प्रति सद्भाव रखना। सहयोग देने की भावना यदि अपने में है तो हम किसी को नुकसान नहीं पहुँचा सकते। सब का कल्याण हो- अगर यह सद्भाव अपने भीतर है तो हम किसी के साथ बुराई करने की सोच भी नहीं सकते। अतः सुन्दर समाज के निर्माण के लिये, लोक के कल्याण के लिये भी और अपने व्यक्तिगत उत्थान के लिये भी, राग-द्वेष को मिटाना बहुत जरूरी बात है। कैसे मिटायेंगे ? एक शरीर को अपना और अन्य शरीरों को पराया मानेंगे तो नहीं मिटा सकेंगे। शरीर संसार का है, उससे संसार का अविच्छिन्न सम्बन्ध है- ऐसा मान करके सभी का हित; सभी के प्रति सहयोग; सभी के प्रति सद्भावना; यह हमारा एक व्रत होना चाहिये। ऐसा मैंने सोचा तो मुझको लगा कि इस धरती पर रहने का उसी का अधिकार है जो सारे संसार के प्रति सद्भावना रख सके। इसका फल क्या होगा ? आप कहेंगे कि दिल में तुम सद्भावना ही रखो कि सबका भला हो जाये, तो तुम्हारे सद्भावना रखने से क्या होगा ? बहुत से लोग तो भूखों मर रहे हैं। उनको रोटी कैसे मिल जायेगी ? तो मैं कहती हूँ कि जितने शरीरों को प्रकृति उत्पन्न करती है, उतने शरीरों के लिये खुराक पैदा करना प्रकृति का काम है, उसकी चिन्ता अपने को नहीं करनी है। लेकिन हम केवल इतना ही व्रत ले लें कि भाई, हम किसी के प्रति कोई बुराई नहीं करेंगे तो सबके प्रति सद्भावना हृदय में रहेगी। मेरी तरफ से बुराई नहीं होगी तो प्रकृति के विधान के अनुसार संसार बहुत कुशल से रहेगा। खुराक की कमी का प्रश्न प्रकृति के दोष से नहीं आता है। मनुष्य ने मनुष्यता को छोड़ दिया, शरीर और जगत् की एकता को हम भूल गये। इसलिये समाज में अनेक प्रकार की विषमतायें और संघर्ष की उत्पत्ति हो गई।

अब हम सब लोग सत्संगी होकर स्वधर्म और शरीर धर्म के पालन करने वाले बन जायेंगे, तो आप सच मानिये कि एक-एक भाई, एक-एक बहिन केवल भौतिक दर्शन के आधार पर शरीर और संसार की एकता को स्वीकार कर ले तो सामाजिक संघर्षो का अन्त हो जायेगा, फिर उसका बड़ा शुभ परिणाम होगा। क्या होगा ? कि जब शरीर को आपने समाज की धरोहर मान लिया, उसकी सेवा की सामग्री मान लिया तो उस सामग्री से फिर व्यक्तिगत सुख भोगने की बात जीवन में से निकल जायेगी। 'बापू के आशीर्वचन' नामक एक छोटा-सा संग्रह मैंने पढ़ा। उसमें एक जगह पर लिखा था कि जब मैं ईश्वर का हूँ और मेरा समय ईश्वर का है, तो इस जीवन में व्यक्तिगत सुख भोगने का कौनसा स्थान है ? और जब सारा समय परमात्मा का है तो एक भी क्षण आलस्य में कैसे बीते ? जिन्दगी का कोई हिस्सा व्यक्तिगत सुख-भोग के लिये नहीं है। यह किस का व्रत हो गया ? एक सही ईश्वरवादी का। जिसने ईश्वर को माना; जिसने अपने को ईश्वर का मान लिया; उसके जीवन में से व्यक्तिगत सुख-भोग निकल गया और आलस्य निकल गया। कितना बड़ा काम हो गया।

अब अपनी दशा देखें हम लोग। जितने भाई-बहन यहाँ बैठे हैं, मेरा अनुमान है कि उनमें से अधिक संख्या उनकी है जो ईश्वर को मानते हैं। अब सोच करके देखो तो, कितनी बार हम लोगों ने उस सर्वज्ञ परमात्मा के सामने बैठ करके यह कह दिया कि 'हे प्रभु ! यह मन तेरा, यह तन तेरा, यह धन तेरा, यह सब कुछ तेरा, मैं तेरा।' तो क्या अपने कहे हुये पर हम अचल हैं ? नहीं हैं। कह दिया था, हे प्रभु ! यह तन तेरा। गाँधीजी ने कहा कि हे प्रभु ! यह सब कुछ तेरा, तो उन्होंने उसको निभाया। साफ शब्दों में उन्होंने कहा कि जब सब कुछ परमात्मा का हैं, यह तन भी उनका है तो इस तन के द्वारा सुख भोगने का कौनसा स्थान है ? दूसरे की पराई वस्तु हो

गई न। किसी को समर्पित कर दिया, चाहे आस्तिक दर्शन के अनुसार परमात्मा का मान करके, परमात्मा को समर्पित कर दिया और चाहे भौतिक दर्शन के अनुसार जगत् का मान करके, जगत् को समर्पित कर दिया। किसी भी सही दृष्टिकोण से हम लोग विचार करेंगे तो अपने पास मिला हुआ जो एक शरीर है, इस शरीर को लेकर किसी प्रकार के सुख भोगने का स्थान मनुष्य के जीवन में नहीं है। कहीं भी किसी भी दार्शनिक दृष्टिकोण से किसी भी सत्य के stand पर खड़े हो जाओ तब तो जीवन का उत्थान दिखाई दे और नहीं तो कहने के लिये, हे प्रभु ! सब कुछ तेरा और उपयोग में लाने के लिये सब कुछ मेरा। मैं जैसे चाहूँ वैसे इस शरीर का उपयोग करूँ। अधिक से अधिक सुख भी मैं इस शरीर से लूँ और अधिक से अधिक सम्मान का भोग भी मैं ही करूँ, इसी कारण से कथन में और जीवन में इतना अन्तर हम लोग रखते हैं, इतना भेद रखते हैं। इसलिये मेरा लिया हुआ व्रत मेरे जीवन को उज्ज्वल बना नहीं रहा है। थोड़ी देर के लिये यह कह देना कि हे प्रभु ! यह तन तेरा, यह धन तेरा, यह मन तेरा, यह सब कुछ तेरा - यह कहना आसान लगता है, लेकिन जैसा मैंने कहा, वैसा माना भी क्या ? ऐसा सोचना।

प्रतिदिन प्रातःकाल सबसे पहिले आँख खुले तब, प्रतिदिन रात्रि में सोने से पहले आखिरी प्रोग्राम- यह सत्संग होना चाहिये, कि जैसे मैंने जीवन के सत्य के आधार पर मान्यता स्वीकार की है, वैसा ही जीवन बनाया क्या ? अगर नहीं बनाया है तो अपने सुधार के लिये वही सब से अच्छा क्षण है, जब कि अपने को दिखाई देता है कि हे प्रभु ! मैंने सचमुच जैसा तुम्हारे आगे निवेदन किया, वैसा अब तक किया नहीं है। मेरी इस भूल को आप क्षमा करें और इस भूल को मैं न दोहराऊँ, इसके लिये मुझे सामर्थ्य दें। तो उन्हीं सामर्थ्यवान से सामर्थ्य माँगिए। उन्हीं करुणा सागर की करुणा के आश्रित हो

कर अपने को उनके आश्रित रखने का व्रत पूरा करिये। कहीं से कुछ सुधार की घड़ी जीवन में आनी चाहिये।

अनुभवी सन्त हम लोगों को सलाह देते हैं कि देखो, तुम्हारे पास शरीर है, शरीर धर्म का पालन कर सकते हो। तुम स्वयं हो, 'मैं हूँ'-ऐसा कहकर अपनी सत्ता का अनुभव कर रहे हो इसलिये तुम स्वधर्म का पालन भी कर सकते हो। तो शरीर के द्वारा जगत् की सेवा करते हुये, जगत् का भला मनाते हुये, शरीर धर्म का पालन हम कर सकते हैं और 'स्व' के द्वारा, विवेक के प्रकाश में शरीर और संसार का संबंध तोड़कर, स्वधर्म का पालन भी कर सकते हैं। अलख अगोचर, अविनाशी को अपना मानकर, स्वधर्म का पालन हम कर सकते हैं। स्वधर्म के पालन से सत्संग सिद्ध होता है। शरीर धर्म के पालन से विश्व-शान्ति सुरक्षित होती है। हम लोगों को दोनों ही बातें अभीष्ट हैं। जिस संसार में हम रह रहे हैं उसकी शान्ति बनी रहे- यह भी अपने को अभीष्ट है। शरीर और संसार की आसक्ति से छूटकर इनके बन्धन से मुक्त होकर, अविनाशी जीवन से अभिन्न हो जायें - यह भी अपने को अभीष्ट है। दोनों ही बातें अपने को अभीष्ट हैं। इसलिये दोनों ही प्रकार के व्रतों का पालन, हम भाई-बहिनों को करना चाहिये। स्वधर्म में कौन-कौन-सी बातें आ गईं ? स्वधर्म में एक बात यह आ गई कि जो तुम्हारा दृश्य है वह तुम्हारा जीवन नहीं है। इस सत्य को स्वीकार करो। जीवन का दृश्य नहीं बनता है, जिसके आप द्रष्टा हो सकते हैं वह आपका जीवन नहीं हो सकता। जो आपका दृश्य बन गया, वह 'स्व' से अभिन्न नहीं हो सकता। वह 'स्व' नहीं है। जो 'स्व' है वह दृश्य नहीं है। जो दृश्य है वह 'स्व' नहीं है।

अब आत्मदर्शन के स्टैण्ड (stand) पर खड़े होकर जीवन को देखिए। बाहर का दृश्य दिखाई देता है, तो क्या ? और आँखें बन्द कर लेने पर सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं में, बाहर के जो चित्र अंकित

हो गये हैं, वे दिखाई देते हों तो क्या ? बाहर का चित्र भी चित्र ही है और मानस-पटल पर अंकित चित्र भी चित्र ही है। आँखें खोलकर देखते हो तो दृश्य दिखाई देते हैं। आँखें बन्द करके देखो तो सूक्ष्म शरीर में जो चित्र अंकित हो गये हैं वह भी दृश्य ही हैं। तो दार्शनिक सत्य क्या है जीवन का ? कि जो दृश्य है तुम्हारा, जिसके तुम द्रष्टा बन सकते हो, वह तुम्हारा 'स्व' नहीं है। तो उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लो। वह मेरा नहीं है, वह मेरे लिये नहीं है- इस सत्य को माने बिना देहातीत जीवन में प्रवेश किसी का हो सकता है ? नहीं हो सकता। तो इस स्वधर्म का पालन अनिवार्य हो गया। अब कितना भी संसार की आलोचना किये जाओ; और कितनी भी उसकी निन्दा करते रहो; अगर प्रतीति से सम्बन्ध नहीं तोड़ते, दृश्य में से महत्त्व बुद्धि नहीं निकालते, तो निन्दा करने से संसार का चिन्तन छूट जायेगा ? संसार नाशवान् है - इस बात की पुनरावृत्ति करने से संसार का चिन्तन नहीं छूटता। संसार का चिन्तन कब छूटता है ? जब आप उसको अपने लिये आवश्यक नहीं मानते तो छूट जाता है। ऐसा हुआ है। मैंने इसको अपने जीवन में अनुभव किया है।

जब डिग्रियों का बड़ा महत्त्व था, तो डिग्री लेने में बड़ी विशेषता मालूम होती थी। जिस दिन विश्वविद्यालय को त्याग-पत्र लिखने लगी, हस्ताक्षर करने लगी तो मैंने अपने से पूछा कि जिन डिग्रियों को तुमने बड़ा महत्त्वपूर्ण माना था, प्राणपन से जिसकी रक्षा की थी, जिसमें बड़ी विशेषता मालूम होती थी, अब पद का त्याग करने के बाद उन कागजों का कोई महत्त्व है तुम्हारे लिये ? उनकी कोई कीमत है तुम्हारे लिए ? कोई जरूरत है ? वह कभी काम आयेगी ? तो मुझे भीतर से लगा कि कुछ नहीं। अब उनका कोई मूल्य नहीं है। जिस समय व्यक्ति दृश्य जगत् के महत्त्व को अपनी दृष्टि से निकाल देता है फिर उसके बाद उसका न कोई मूल्य रह

जाता है उसके लिये, और न कभी भूलकर मस्तिष्क में उसका चिन्तन ही आता है। कभी नहीं आता है। जब चीज को आपने अपने लिये निस्सार मान लिया, तो खत्म हो गई। फिर उसका कोई चिन्तन नहीं रहता है। ऐसे ही यदि आप सत्संग के प्रकाश में अपने देहातीत जीवन के आनन्द का अनुभव पसन्द करते हैं, अपने अलख-अगोचर, परम-प्रेमास्पद के प्रेम-पात्र होना पसन्द करते हैं तो स्वधर्म का पालन अनिवार्य होगा।

स्वधर्म को इन्हीं दो रूपों में हम लोगों को ले लेना चाहिये। जो नहीं है, उसकी महत्ता को अस्वीकार कर देना और जो सदा-सदा से है, उसको स्वीकार कर लेना ! यह दो ही वाक्य हैं, स्वधर्म के सम्बन्ध में। विवेक के प्रकाश में देखकर जो नहीं है उसको अस्वीकार कर देना। जो नित्य है, सत्य है, जिसमें सातत्य है, जिससे कभी सम्बन्ध-विच्छेद हुआ नहीं है, हो नहीं, हो सकता नहीं, जिसकी उपस्थिति को, अपने में अनुभव किये बिना, जीवन पूर्ण हो नहीं सकता,- उसके होनेपन को अपने द्वारा स्वीकार कर लेना। तो 'नहीं' को नहीं करके, और 'है' को 'है' करके, स्वीकार कर लेना- इसी का नाम स्वधर्म है। इस स्वधर्म के पालन से ही, सभी प्रकार के साधनों की अभिव्यक्ति होती है।

हमारा अपना पुरुषार्थ क्या है ? असाधन के नाश का उपाय मुझे करना है और साधन की अभिव्यक्ति स्वभाविक होती है। जो साधन जीवन में अभिव्यक्त होता है, उसी से साधक की एकता होती है। साधक की साधना से एकता होती है, तब साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। साधन-तत्त्व से साध्य की अभिन्नता होती है। तो अपना पुरुषार्थ उतनी ही दूर तक चलाना है जहाँ तक असाधनों के नाश का प्रश्न है। उसके बाद की पूरी प्रक्रिया (Process) स्वभाव से अपने आप होती चली जायेगी। असाधन का नाश हो जायेगा, साधन का निर्माण हो जायेगा, साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति हो जायेगी,

साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व साधन-तत्त्व से मिल जायेगा।

साधन-तत्त्व जो है वह साध्य का स्वभाव है। वह साध्य का स्वरूप है। जिसमें मिल जाने के बाद न फिर कहीं द्वैत का खतरा रहेगा, न फिर कभी दुःख, अभाव और मृत्यु का कहीं दर्शन होगा। सब समस्यायें समाप्त हो जायेंगी-ऐसा सोचकर अगर आप भाई-बहिनों को यह ढंग पसन्द आए तो अकेले-अकेले बैठकर स्वधर्म पालन और शरीर धर्म के पालन के सम्बन्ध में सोचते रहना, विचार करते रहना। जहाँ-जहाँ अपनी कमी मालूम होती हो, उसकी पूरी करने की चेष्टा करते रहना। तो चेष्टा में लगे रहना हमारा काम है और आवश्यक शक्ति प्रदान करके मेरे जीवन को पूर्ण बनाना- यह जीवनदाता का काम है। अब शान्त हो जाइये।

(74)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव-जीवन के सम्बन्ध में बहुत अच्छी और आवश्यक बात अभी हम लोगों ने सन्तवाणी में सुनीं। पहली बात जो हमारे लिये बहुत ही उपयोगी है, वह यह है कि विवेक के प्रकाश में देखकर इस बात को अपने द्वारा स्वीकार करो कि इस जगत् में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है। जब हम इस बात को स्वीकार कर लेंगे कि मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, तो फिर इस जगत् से कुछ पाने की कामना भी खत्म हो जायेगी।

जो मिला हुआ-सा दिखाई देता है, वह अपना नहीं है, अपना होकर रह नहीं सकता, तो जो नहीं मिला है, उसकी इच्छा का कोई अर्थ ही नहीं है और यही खास बात है कि जो अपना नहीं है उसको अपना मान लेते हैं हम। फिर जिन कामनाओं की पूर्ति से सदा घाटा ही घाटा उठाया, उन्हीं कामनाओं की पूर्ति के फेर में पड़े रहते हैं।

विविध प्रकार के राग-द्वेष इत्यादि विकारों का जन्म होता रहता है। उसी में परेशान रहने के कारण अपने ही में नित्य विद्यमान परमात्मा की विद्यमानता का कोई आनन्द नहीं आता। केवल इतनी-सी बात है। और दूसरा कुछ कारण नहीं है। जो इतना विशाल है कि जिससे बड़ा और कुछ हो ही नहीं सकता; जो इतना मधुर है कि उससे अधिक मधुर कोई हो ही नहीं सकता; जो सब प्राणियों का जीवनदाता है, जो सर्वज्ञ है - जिससे कुछ छिप ही नहीं सकता; जो सर्वत्र है - जिससे कोई स्थान खाली नहीं है, ऐसा जो हमारे-आपके जीवन का आधार है, वह सत्य है, इसलिये ज्ञानस्वरूप है; आनन्दस्वरूप है; रसस्वरूप है। ऐसे परमात्मा के विद्यमान होते हुए भी हमारे भीतर उदासी क्यों है ? चिन्ता, दुःख और मृत्यु का भय क्यों है ? अनुभवी सन्तों, भक्तों, ऋषियों, मनीषियों ने हमें बताया कि देखिये - आप राग-द्वेष में फँसे हुये हैं, इसलिये आपको उस नित्य विद्यमान की विद्यमानता का पता नही चल रहा है। जैसे सूर्योदय के बाद कोई कहे कि हमको तो सब अँधेरा ही अँधेरा दीखता है, तो जरूर हम लोग सोचेंगे कि इसकी दृष्टि में कोई दोष है। ऐसे ही नित्य विद्यमान परमात्मा के विद्यमान रहते हुए, अगर अपने को उदासी लगती है, खिन्नता, दीनता लगती है, मृत्यु का भय सताता है, तो यही कहना पड़ेगा कि जरूर मुझमें कोई दोष है। अन्यथा वह तो ज्यों का त्यों, जैसे के तैसे, सदा-सदा के लिये अपनी सब विभूतियों के साथ हर समय विद्यमान ही है। तो अपने भीतर खोज करके देखिये कि उसका पता हमें क्यों नहीं लगता ? इसलिये नहीं लगता कि तरह-तरह के राग-द्वेष में हम फँसे हुये हैं। उसकी विद्यमानता का आनन्द लेने के लिये पहला पुरुषार्थ अपना क्या होगा ? पहला पुरुषार्थ यह होगा कि हम लोग अपने को राग-द्वेष से मुक्त करें।

इसके लिये सब से बढ़िया तत्त्व जो हर मानव को मिला हुआ है, वह है उसका निज विवेक का प्रकाश। यह वहीं से आ रहा है जो

स्वयं-प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा है। उसी में से यह प्रकाश आ रहा है। जिसमें देखकर हम लोग इस बात को जान गये कि भाई! मुझमें किसी न किसी वस्तु, किसी न किसी व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष बन गया है। उसी के प्रभाव से मेरी दृष्टि में, मेरे चिन्तन में, मेरे जाग्रत में, स्वप्न में वस्तु और व्यक्ति भरे हुये हैं। नित्य विद्यमान परमात्मा के आनन्दस्वरूप का कोई आनन्द ही नहीं आया। यह अपनी दशा हो गई। यह मानवमात्र के जीवन का सत्य है। किसी मजहब का मानने वाला हो, किसी सन्त का अनुयायी हो, किसी गुरु से दीक्षा लेकर आया हो, कुछ भी उसका मतवाद हो - कोई अन्तर नहीं आता। सबके लिये समान रूप से, यह मानव के जीवन का वैज्ञानिक सत्य है कि वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति राग-द्वेष रखने के कारण से, उसके विचार में, उसके व्यवहार में, उसके चिन्तन में, उसके जाग्रत और स्वप्न में, वस्तु और व्यक्ति ही भरा हुआ है। नित्य विद्यमान परमात्मा का कहीं पता नहीं है। इस तरह यदि रोग का निदान हो गया तो चिकित्सा आसान हो जाएगी।

अब इस बीमारी को दूर कैसे करें ? ईश्वरवादी हैं तब भी और अध्यात्मवादी हैं तब भी, भौतिकवादी हैं तब भी, साकार उपासक हैं या निराकार उपासक हैं- किसी भी प्रकार के साधक हों आप, आपके भीतर जो सत्य विद्यमान है, वह सब के लिये समान है और उस सत्य की अभिव्यक्ति जब होगी, तो उसके बाद का जीवन समान होगा। कोई भेदभाव नहीं रहेगा। केवल व्यक्तिगत भिन्नता की दृष्टि से, साधन काल की अनुभूतियों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर हर भाई-बहिन का रहता है। बीमारी सबकी एक-सी है और उसका कारण भी सबके लिये एक समान है। कौनसा उपाय है ? कि भाई, विवेक के प्रकाश का आदर करो और उसमें देख करके जैसे बने वैसे अपने को समझा लो कि हमारे पास जो कुछ दिखाई दे रहा है, यह सब मेरा व्यक्तिगत नहीं है। केवल इतनी-सी बात। इसके आगे अगर

सोचेंगे हम लोग तो दार्शनिक झंझट में पड़ जायेंगे। व्यक्तिगत मेरा कुछ नहीं है- यहाँ तक सोच लेने में बहुत Safe हैं हम लोग। कोई कहेगा कि मेरा नहीं है फिर किसका है ? तो किसी की दृष्टि से हो जायेगा - कि प्रकृति का है, और कोई कहेगा जगत् का है, कोई कहेगा समाज का है, कोई कहेगा राष्ट्र का है, कोई कहेगा परमात्मा का है, कोई कहेगा कि नहीं है। ये सब मतभेद सामने आ जायेंगे। इसलिये मानव सेवा संघ की पद्धति में सभी साधकों को समानरूप से स्वाधीनता पूर्वक आगे बढ़ाने के लिये स्वामीजी महाराज ने कहा कि भैया ! बस, तुम्हारे लिये इतना ही काफी है कि यह मेरा नहीं है। किसका है वो जानने वाले जाने, सृष्टि जाने, सृष्टिकर्त्ता जाने। मेरा काम इतने से बन जायेगा कि मैं इस ठोस सत्य को स्वीकार कर लूँ कि यह सब कुछ मेरा नहीं है।

अब थोड़ी-सी कठिनाई आती है। मेरे सामने आयी थी। वट वृक्ष के नीचे बैठकर स्वामीजी महाराज के मुख से मैंने सुना बड़े स्पष्ट शब्दों में कि लाली ! तुमको जीवन में अचल आधार चाहिये, ऐसा नित्य-साथी तुमको चाहिये, कि जिसका सहारा लेकर सदा-सदा के लिये निश्चिन्त हो सके। तो ऐसा साथी तो है। ऐसा एक मित्र मेरा है कि जिसको कोई अपना बना ले, तो वह सदा-सदा के लिये उसका साथ देता है। फिर कभी भी तुमको अनाथपन की पीड़ा सतायेगी नहीं, कभी तुमको सूनापन सतायेगा नहीं- ऐसा एक मित्र मेरा है। लेकिन एक शर्त तुम मान लो, तो मैं सगाई की बातचीत करूँ। मैंने कहा कि बताइये महाराज। उन्होंने कहा कि देखो, झोली में जो जो कुछ भर के रखा है तुमने, सब झाड़ दो। खाली कर दो अपने को। इतनी हिम्मत तुम कर लो, तो मैं सगाई करा दूँगा। तो अपने को जरूरत तो थी ही, निराधार जीवन पसन्द नहीं था। दुनिया में कोई आधार काम के लायक दिखा नहीं। जीवन का आधार लेने की आवश्यकता तो थी। लेकिन जब उन्होंने कहा

कि शारीरिक बल और बौद्धिक योग्यता और अध्ययन की डिग्रियों और राष्ट्र का दिया हुआ पद, कमाई हुई सम्पत्ति, जोड़ा हुआ कुटुम्ब- यह सब जो तुमने अपना-अपना करके झोली में भर रखा है, सब झाड़ दो इसी जगह इसी जगह, इसी वट वृक्ष के नीचे खाली कर दो। जब तुम्हारा पात्र खाली हो जायेगा, तब मैं सगाई की बातचीत कर दूँगा तो एकबार भीतर से बड़ी जोरदार ममता का आक्रमण हुआ मुझ पर। इसीलिये मैं जानती हूँ कि हमारी तरह और भी दुर्बल-निर्बल भाई-बहिन बैठे होंगे, जिन पर ममता का आक्रमण होता होगा। तो बड़ी जोर से आक्रमण हुआ और ऐसा लगा भीतर-भीतर कि मैंने सन्तों की मण्डली में आकर अच्छा नहीं किया। इसको सत्य मानना, यह बीमारी के लक्षण (Symptoms) हैं। तो मैं बता देती हूँ कि तुम लोग भी Free हो जाओगे। तो क्या लगा मुझे भीतर से ? कि इतना परिश्रम करके, इतनी कठिनाई से, सम्मानपूर्वक पद पाया, योग्यता पाई, धन कमाया और कुटुम्ब जोड़ा- इतना सब किया कष्ट उठा के, तो महाराजजी कहते हैं कि यह सब छोड़ दो। तो हाय ! यह सब मेरे हाथ से चले गये। अब मैं क्या करूँ ? तो सब छोड़ना कठिन लगा भीतर-भीतर। यह ममता का आक्रमण व्यक्ति पर होता है। लेकिन सन्त की कृपा, भगवत् कृपा दुर्बल साधकों का साथ देती है।

एक जगत नारायण शर्मा पण्डितजी रहते थे स्वामीजी महाराज के पास, तो वह कहा करते थे --

"जब तेरी रहमत ने दिया, हम गुनाहगारों का साथ।
चीख उठे बेगुनाह; हम गुनाहगारों में हैं।"

यह सुनाया करते थे। तेरी रहमत, तेरी कृपा ने, जब दुर्बल, निर्बल, पतित साधकों का साथ दिया अर्थात् इनका उद्धार तुमने अपनी कृपा से किया तो निर्दोष जो थे वे भी चिल्लाने लगे कि हम भी दोषी हैं, हम भी दोषी हैं। हमारा भी कल्याण करो। तो ऐसा

होता है। सन्त की कृपा होती है। भगवत् कृपा होती है और मुझ पर कृपा हुई।

ममता के जोरदार आक्रमण के कारण मेरे भीतर कुछ देर तक द्वन्द्व होता रहा। हाथ-पाँव ठण्डे हो गये। वट वृक्ष के नीचे बालू पर बैठे-बैठे वहाँ पर से मुझ से उठा नहीं गया। थोड़ी देर तक मैं बैठी रही। लेकिन जीवन की आवश्यकता इतनी जोरदार थी कि मेरी उस द्वन्द्व की दशा में से सन्त ने, भगवन्त ने मुझको उबार दिया और मैंने निश्चय कर लिया कि अब चाहे जो भी कुछ हो, जिस जीवन की माँग है मुझ में, उसके लिये यह सन्त जो कहते हैं वह एकबार करना ही पड़ेगा। तो फैसला हो गया। फैसला हो गया तो द्वन्द्व खत्म हो गया। ममता का आक्रमण बेकार हो गया। सन्त की कृपा का प्रभाव हो गया। सत्संग का प्रकाश मिल गया। ऐसा होता है। ऐसा होना चाहिये।

इस बात से हम भाई-बहिनों को बहुत शक्ति मिलती है कि भाई! जिन्दगी में जो भी कुछ आपने अपना करके जोड़ा है, वे वस्तुयें तो आपको उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन उन वस्तुओं के प्रति जो ममता है, उस ममता की बीमारी के कारण से भगवत्-चिन्तन की जगह पर वस्तुओं का चिन्तन हो रहा है। जिन व्यक्तियों से आपने नाता मान लिया है वे व्यक्ति आपके नातेदार हैं नहीं। रहेंगे नहीं। इस शरीर के उत्पन्न होने के पहिले, वे माँ-बाप, माँ-बाप नहीं थे। और शरीरों के नाश हो जाने के बाद नहीं रहेंगे। आप माता-पिता बने हैं। बच्चे पैदा हुये हैं। तो बच्चों के पैदा होने से पहले, आप माँ-बाप नहीं थे और मर जाने के बाद नहीं रहेंगे। तो यह सच्चे नातेदार हैं नहीं। क्यों मिले हैं आपको, पहिले जो भूल की गई थी, उस भूल के परिणाम से जो राग उत्पन्न हुआ था उस राग को मिटाने के लिये मिले थे और अब नया राग बाँधना आरम्भ किया। तो भूल कुटुम्ब की है कि अपनी है ? अपनी है। इसलिये वस्तु और व्यक्ति के चिन्तन

से आप मुक्त हो जायें - यह जरूरत आपकी है।

हर किस्म का साधक, इसी बीमारी में आकर फँस जाता है। शान्त होकर बैठना चाहता है, भगवत् चिन्तन का लाभ लेना चाहता है, प्रभु की मधुर स्मृति में अपने को सराबोर करना चाहता है, लेकिन होता ही नहीं है। क्या होता है ? कि इन सब अच्छी-अच्छी उपलब्धियों की जगह पर उसको संसार, वस्तुओं और व्यक्तियों का चिन्तन सताता रहता है। बस यहीं आकर साधक अटके रहते हैं, और बहुत-सा समय खराब हो जाता है। इसलिये आपकी पीड़ा से पीड़ित होकर साधक समाज की दुर्दशा से, करुणा से द्रवित होकर स्वामीजी महाराज ने इस मूल मन्त्र को पढ़ाया कि भाई, इसमें फँसने की बात नहीं है। जिस कारण से वह चिन्तन तुम्हारे भीतर भरा हुआ है, उस कारण को मिटा दो तो तुम फ्री हो जाओ। वह कैसे मिटेगा ? जो कुछ तुम्हारे आस-पास जमा हो गया है, उसे अपना मत मानो।

ज्ञान-पन्थ के साधक जो होते हैं, बड़े सामर्थ्यवान होते हैं। उनमें इतनी शक्ति होती है कि वह 'नहीं' कहकर इन्कार कर देते हैं और हमारे जैसे दुर्बल साधक, जिनकी हिम्मत ही नहीं होती है इन्कार करने की, उनके लिये एक बड़ा अच्छा रास्ता है। बड़ी कठिनाई से पैसा जोड़ा था, अब कैसे कह दें कि मेरा नहीं है। तो उनको भक्तजन दया करके एक मन्त्र पढ़ा देते हैं। कहते हैं- इसको फेंकना थोड़े ही है। इसको फेंको भी मत, इसको बर्बाद भी मत करो, और देवकीजी ! अपने कमजोर हाथों में रखकर क्या करोगी ? सामर्थ्यवान् को सौंप दो। तो ममता को मिटाने के लिये एक बड़ा अच्छा आधार मिल गया। बड़े कष्ट से बाल-बच्चे पैदा किये थे, बड़ी लगन से उनको पाला था, नाता कैसे तोड़े ? तो भक्तजन कहेंगे कि अरे ! नाता तोड़ कर, तुमको इनसे कुछ लड़ाई थोड़े ही करनी है। तुम अपने कमजोर हाथों में लेकर क्या करोगे ? रोग से, बीमारी से,

अलाय- बलाय मृत्यु से रक्षा करते तो तुमसे बनता नहीं है। तुमसे बड़ा एक रक्षक है जो सदा-सदा से इनकी रक्षा करता आया है। उसके हाथों में इनको सौंप दो तो आदमी के दिल को थोड़ा-सा सहारा मिल जाता है। अच्छी बात, मेरा तो है ही नहीं। मेरे वश में तो रहेगा नहीं। लेकिन फेंकना नहीं है। मुझसे अधिक बलवान जो है, और सबसे अधिक ऐश्वर्यवान् जो है, जिस पर कोई विजयी हो ही नहीं सकता, ऐसा जो सामर्थ्यवान् परमात्मा है, वह रक्षा करता है, लाओ, उसी के हवाले कर दो। और सच पूछिये तो सब कुछ उनका ही है। उन्होंने थोड़ा-थोड़ा हम लोगों को दिया था। हमारी हैसियत के हिसाब से- थोड़ा सुख दे दिया, थोड़ा सम्मान दे दिया, थोड़ा सामान दे दिया। वे दे सकते हैं, अपार दे सकते हैं। जिसके संकल्प-मात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना हो सकती है, वह अपने प्यारे पुत्रों को, प्यारी पुत्रियों को क्या नहीं दे सकते हैं, सोचो तो!

सुदामाजी के साथ कैसा खेल किया था ! नहलायें, धुलायें, कपड़े पहनायें, खिलायें, पिलायें अच्छी तरह से। और अपने प्रेमी के प्रेम का आदर करने के लिये उससे पूछा नहीं कि हे मित्र ! तुमको कुछ चाहिये ? और वह प्रेमी भी बड़ा वीर था, उसने भी माँगा नहीं। ''देखि सुदामा की दीन दशा, करुणा करके करुणा निधि रोये। पानी परात को हाथ छुयो नहीं, नैनन के जल सों पग धोये।।'' इतना प्रेम किया और पूछा नहीं कि मित्र तुमको कुछ चाहिये ? और चलने के समय, जो राजसी ठाठ के कपड़े वगैरा पहना दिये थे वह भी उतरवा लिये। कैसे मजेदार हैं ! उनकी लीला का कोई अन्त नहीं है। आनन्द ही आनन्द है। बस, जो एकबार उनसे नाता-रिश्ता जोड़ ले, वह मजा ही लेता रहे। तो उतरवा लिये यह कह करके कि मित्र ! बड़ा लम्बा रास्ता है तुम्हारा, कितने दिनों बाद तुम नगर में पहुँचोगे, यह राजसी कपड़े, रास्तें में तुमको चोर-लुटेरे मार-पीट कर

छीन न लें ! इसलिये जो पहले पहनकर तुम आये थे, वही पहन कर जाओ। कहा तो यह, और था उसमें उस मित्र के प्रेम का आदर। कृष्ण भगवान अत्यन्त प्रसन्न थे सुदामाजी से। सुदामाजी को सिवाय मित्र की मित्रता के उनके राज्य के ठाट-बाट, वैभव से कोई मतलब ही नहीं था। हृदय के पारखी भगवान ! उस प्रेमी हृदय के प्रेम का आदर करते हुये, वस्तुओं को नगण्य करके, अपने आस-पास के पार्षदों को दिखला दिया कि देखो ! यह मेरा मित्र है और कितना ऊँचा है। इसको मेरी किसी भी वस्तु की कोई जरूरत नहीं है। रानियाँ, महारानियाँ, पटरानियाँ खड़ी-खड़ी तमाशा ही देखती रहीं कि महाराज करते क्या हैं ? बेचारा गरीब ब्राह्मण मित्र है तो क्या है। गरीब तो है, जो कपड़े पहनाये थे सो भी उतरवा लिये। उनको तो आश्चर्य हो रहा है। ऐसा करके विदा तो किया। लेकिन क्या नहीं दिया ?

इसलिये मैं सोचती हूँ, वे विश्वम्भर क्या नहीं दे सकते हैं ? सब-कुछ दे सकते हैं। लेकिन हम लोगों की हैसियत के मुताबिक थोड़ा-थोड़ा देते हैं। ज्यादा देंगे तो हम पागल हो जायेंगे, तो उनको फिर सँभालना पड़ेगा। धन के अभिमान में, तन के अभिमान में, योग्यता के अभिमान में, पद के अभिमान में क्या-क्या अनर्थ हम कर डालेंगे ? इस कारण से वे सोच-सोच के, नाप-तौल करके, थोड़ा-थोड़ा-सा हम लोगों को देते हैं, अगर सत्संग के प्रकाश में हमने इस बात को स्वीकार कर लिया कि मेरे पास जो कुछ है मेरा नहीं है, उसी का दिया हुआ है-अगर ऐसा मान लिया, तो केवल इस सत्य को स्वीकार करने मात्र से चित्त में से राग मिट जायेगा।

अब दूसरी बात यह है कि देखे हुये संसार को, बुरा मत समझो, निन्दा मत करो, छोड़कर भागो नहीं, उससे रूठो मत। तुम्हारा नहीं है, संसार के मालिक का है। मालिक का कहकर मालिक को सौंप दो। और फिर प्यारे के नाते प्रियतापूर्वक सेवा

करते रहो। डायरेक्ट (Direct) सम्बन्ध बनाने से हम लोग फँस जाते हैं। उनके through सम्बन्ध बनाने में बहुत आराम है। बोझ भी अपने पर नहीं रहता और बनने-बिगड़ने की चिन्ता भी अपने को नहीं रहती- प्रभु तुम्हारी सृष्टि ! प्रभु तुम्हारा सृष्टि कार्य ! और मेरा हिस्सा कितना है ? तुम्हारी प्रसन्नता के लिये इनकी सेवा। इतना-सा परिवर्तन अपनी दृष्टि में हम लोग कर लें तो बीमारी छूट सकती है। न घर बदलो, न कपड़ा बदलो, न नौकरी-चाकरी छोड़ो, न बाल-बच्चों का पालन छोड़ो, न वृद्ध माता-पिता की सेवा छोड़ो- यह सब कुछ नहीं। यह सब काम अपनी जगह जैसे के तैसे होंगे। केवल हमारा attitude बदल जायेगा। अब तक हम इनकी सेवा कर रहे थे, किये हुये कार्य के बदले में, इनसे सहयोग लेने के लिये। अब हम इनकी सेवा कर रहे हैं, इनसे लिये हुये सुख का राग मिटाने के लिये। समझ में आया ?

राग रहित होना, बहुत ही आवश्यक और पहला कदम है। ज्ञान-पन्थ के साधक, प्रेम-पन्थ के साधक, साकार उपासक, निराकार उपासक, विभिन्न मजहबों के माननेवाले अनेकों साधक होंगे- किसी भी साधक के जीवन में राग को मिटाये बिना सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी। राग की उत्पत्ति होती है, सुख के भोग से, सुख के लालच से। सुख लेना छोड़कर सेवा करना आरम्भ करो, नया राग बनेगा नहीं, पुराना राग मिट जायेगा। मुक्ति का पन्थ भी खुला है, भक्ति का पन्थ भी खुला है, योग का पन्थ भी खुला है। हर दृष्टि से आपका उपकार हो जायेगा।

मानव सेवा संघ किसी से पूछता नहीं है कि आप किस इज्म (ism) के मानने वाले हैं। किस मजहब के अनुयायी हैं। कुछ नहीं। मानव मानव है। उसके जीवन का वैज्ञानिक सत्य है कि वह भौतिक जगत् के प्रति सुख की दृष्टि रखेगा तो भौतिक जगत् के चिन्तन से नहीं छूटेगा। आपको मानसिक शान्ति चाहिये कि कोई विशेष

सिद्धान्त चाहिये ? मानसिक शान्ति चाहिये। तो भाई ! दवा के बारे में विचार करके हम क्या करेंगे, हमें तो आरोग्य चाहिये। इसलिये हम लोग कुछ नहीं पूछते हैं कि किसी से। कोई भी साधन-प्रणाली घटिया नहीं है। कोई भी मजहब कोई गलत बात बताता नहीं है। हम क्यों उस पर विचार करें ? सीधी-सी बात है कि राग-मुक्त होने का उपाय करो, जगत् में रहते हुये करो, कुटुम्बीजनों के बीच में खड़े होकर करो। संसार की सेवा में लगाकर करो, विवेक के प्रकाश में देखकर करो। प्रभु के समर्पित होकर करो। दार्शनिक दृष्टिकोण को भी जीवन में रखिये। अस्तिकता के भाव को भी जीवन में रखिये और जगत् की सेवा को भी जीवन में रखिये।

भौतिकता, दार्शनिकता और आस्तिकता- ये तीनों ही दृष्टिकोण हर मनुष्य के जीवन में सदैव विद्यमान हैं। शरीर है तब तक भौतिकता को क्यों नहीं देखोगे, कैसे काम चलेगा ? अमर-जीवन की माँग है तो दार्शनिकता को महत्त्व क्यों नहीं दोगे, अमर-जीवन कहाँ से मिलेगा ? प्रेम की प्यास है तो प्रेम-स्वरूप परमात्मा को क्यों नहीं मानोगे ? दूसरे कौन से रस से तृप्ति होगी ? ठीक हैं न। तो मानव के जीवन को सम्पूर्णता में देखना चाहिये। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि अध्ययन काल में मेरे आचार्यों ने मुझको सलाह दी थी कि तुम्हारा जैसा स्वभाव है, जैसी बनावट है, जिस प्रकार का गठन है, उसमें मनोविज्ञान का अध्ययन बहुत लाभदायक रहेगा। उस विज्ञान से तुमको मनुष्य के जीवन पर विचार करने की शक्ति मिलेगी। तो उससे मुझे बड़ी मदद मिली। जरा भी कहीं भी, मानव-मानव के बीच में भेदभाव की दीवार है ही नहीं। सुख भोग के परिणाम से, रागग्रसित सब बीमार हैं और विवेक के प्रकाश के रूप में, औषधि सबके पास है। किसी मजहब का माननेवाला हो, जन्मजात विवेक का प्रकाश उसको प्राप्त है। गलत बात को गलत करके सब लोग जानते हैं। दूसरे गलत काम करते हों तो किसी मजहब का मानने

वाला क्यों न हो, झट से कहेगा कि यह गलत काम है, नहीं करना चाहिये। विवेक का प्रकाश सबके पास है और अनन्त परमात्मा जो मानव-मात्र का जीवनदाता है, जन्मदाता है, उससे सीधा सम्बन्ध (direct connection) सब किसी का है कि नहीं ? सबका है। कोई भगवान कहेगा, कोई राम कहेगा, कोई कृष्ण कहेगा, कोई शिव कहेगा, कोई दुर्गा कहेगा, कोई खुदा कहेगा, कोई गॉड (God) कहेगा, कोई कुछ कहेगा, तो जिसके मन में जो आये वो कहो। है तो एक ही। इसलिये बहुत ही आवश्यक बात है कि आप अपने जीवन के मौलिक सत्य पर दृष्टि रखेंगे, तो मजहबी भेदभाव आपको सीमा में नहीं बाँधेंगे। आग्रही और विरोधी नहीं बनायेंगे। किसी को आप छोटा-बड़ा नहीं समझेंगे। राग-द्वेष की जड़ कट सकती है कि भाई तुम अपना विधि-विधान पूरा करो, हम अपना विधि-विधान पूरा करेंगे। और वैज्ञानिक सत्य सबके लिये एक है, दार्शनिक सत्य सबके लिये एक है। और उस मौलिक बात पर दृष्टि रखकर, आगे बढ़िये, तो सहज से राग-निवृत्ति हो जायेगी। राग-रहित हो जाने के बाद, वह नित्य विद्यमान अपना परम-प्रेमास्पद जो आज बड़ा रहस्यमय मालूम होता है, उसको पाने के लिये, बाहर खोजोगे तो दूर हो जाओगे। जो हर समय तुम्हारी ओर देख रहा है, उसकी ओर न देखने का दोष ही है तुममें और क्या दोष है ? महाराजजी के बड़े सुन्दर दो वाक्य दो-तीन दिन पहिले मुझे मिले। कहने लगे कि देखो भाई ! विचार कर लो, जिसकी ओर तुम बड़ी आतुरता से देख रहे हो, वह संसार तुम्हारी ओर नहीं देखता है। ठीक है ना। गंगाजी की धारा बही चली जा रही है, बही चली जा रही है। हम आकर्षित होकर उसकी ओर देखते हैं। धारा उलट कर हम लोगों से समाचार पूछने आती है क्या ? नहीं आती है, चली जाती है। साँस ले रहे हैं हम लोग, हर साँस के साथ आयु क्षीण हो रही है। आयु लौट कर आती है पूछने कि तुम्हारा समाचार क्या है ? शरीर की अवस्थायें निरन्तर बदलती चली जा रही हैं। युवावस्था चली गई, वृद्धावस्था

आ गई। आप युवावस्था के प्रति बड़े आसक्त हैं। उसने कभी आप से पूछा कि जाऊँ कि ना जाऊँ ? आपसे बिना पूछे, बिना permission लिये, आप से बिना राम-राम किये, शरीर से युवावस्था चली गई। उसके चले जाने के बाद भी आप बैठकर आज पछता रहे हैं कि क्या करें ? तो सन्त की वाणी का देखो चमत्कार। कहते हैं कि जिसकी ओर तुम देख रहे हो वह तुम्हारी ओर नहीं देख रहा है। "और मेरे प्यारे"- यह शब्द स्वामीजी महाराज के हैं-"मेरे प्यारे ! जो निरन्तर तुम्हारी ओर देख रहे हैं उनसे तुम विमुख रहते हो।" जिसकी दृष्टि निरन्तर तुम्हारी ओर लगी हुई है, हाय मेरा बच्चा दुःख पा रहा है, हाय मेरा बच्चा मेरे पथ से भटक गया, हाय मेरा बच्चा मेरे प्यार से वंचित हो गया है। ऐसा जो महाकरुणावान जगत् पिता है, ऐसी जो महाकरुणामयी जगत् जननी है, उनकी दृष्टि निरन्तर हमारे पर लगी हुई है, और हम हैं जो उनकी ओर नहीं देख रहे हैं। इतना ही तो है ना। इतना सँभाल लिया जाये तो काम बन जाये। अब शान्त हो जाओ।

(75)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

एक बड़े काम की बात आज ध्यान में आई। ऐसे यह वचन सुना हुआ बहुत बार का है, नया नहीं है। लगातार दस बरसों से मैं सुन भी रही हूँ, आपको सुना भी रही हूँ, लेकिन आज इस point पर मेरा विशेष रूप से ध्यान गया। स्वामीजी महाराज का कहना है कि आलसी नहीं रहोगे, अकर्मण्य नहीं रहोगे, विवेकी और प्रेमी बनोगे, तो व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा। व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है तो सार्थक चिन्तन उदित होता है। सुना हुआ बहुत बार कहा होगा- व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है तो सार्थक चिन्तन का उदय होता

है। कभी-कभी किसी-किसी बात पर विशेष रूप से ध्यान चला जाता है। तो आज मुझे ऐसा लगा कि कितना सत्य है यह, कि व्यर्थ चिन्तन को पृष्ठभूमि में रखकर के सार्थक चिन्तन का प्रयास हम लोगों का कितना व्यर्थ जाता है।

सार्थक चिन्तन में नाम-रूप का चिन्तन स्वामीजी महाराज ने नहीं बताया है, जैसे कि और दूसरी-दूसरी प्रणालियों में है- कि अपने इष्ट का चित्र अपने सामने रख लो, उनके रूप के चिन्तन में लगे रहो। एक प्रणाली ऐसी है, जो भगवत्-लीला के चिन्तन में लगने की बात बताती है। ऐसे लोग भी हैं जो लीला का चिन्तन करते हैं। नाम, रूप, गुण, लीला, धाम- इन सबके चिन्तन की चर्चा साधना की प्रणालियों में है, अथवा नित्य तत्त्व से एक होने का चिन्तन भी चलता है- 'मैं वही हूँ जो तू है' जो इस प्रकार की प्रणालियाँ हैं, उनको सार्थक चिन्तन कहते हैं। स्वामीजी महाराज वैसा नहीं कहते हैं। वे कहते हैं कि व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा, तो सार्थक चिन्तन उदय होगा। करना पड़ेगा, सो नहीं। 'जो ब्रह्म है सो मैं हूँ, जो वो है सो मैं हूँ'- इस प्रकार का चिन्तन करना नहीं पड़ेगा, उदय होगा। कौनसा सार्थक चिन्तन उदय होगा ? तत्त्व की जिज्ञासा तीव्र हो जाएगी। तीव्र जिज्ञासा उदित होगी अथवा प्यारे प्रभु के प्रेम की प्यास तीव्र हो जाएगी।

एक दिन मैं चर्चा कर रही थी कि हमारा नित्य सम्बन्ध उस अनन्त तत्त्व से है, जो उत्पत्ति-विनाश से रहित है। उस तत्त्व से हमारा नित्य सम्बन्ध है, अर्थात् हम उसी की जाति के हैं, उसका और हमारा स्वरूप एक है। हमारा उसका आत्मीय सम्बन्ध है- ऐसी चर्चा हम कर रहे थे। इसकी हम पुनरावृत्ति करते हैं, इसको धारण करने की चेष्टा करते हैं, इस बात को याद करने की कोशिश करते हैं- ये बातें चलती हैं। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि व्यर्थ चिन्तन का नाश हो जाएगा तो सार्थक चिन्तन अपने आप से उदित होगा

और सार्थक चिन्तन भी किस रूप में ?- प्यारे की प्रियता की लालसा के रूप में, अथवा तत्त्व की जिज्ञासा के रूप में- अपने आपसे प्रकट हो जाएगा कितनी बढ़िया बात है।

जिज्ञासा का जाग्रत होना और जिज्ञासा की पूर्ति युगपद् है- ऐसा लिखा है स्वामीजी महाराज ने। प्रियता की प्यास की तीव्रता का बढ़ जाना और प्रिय मिलन का सरस अनुभव युगपद् है। जिज्ञासा की तीव्रता और जिज्ञासा की पूर्ति ऐसे ही एक साथ होती है जैसे कि सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति। ऐसा कहो कि सूर्य का उदय हो गया तो तुमको यह नहीं कहना पड़ेगा कि अन्धकार की निवृत्ति हो गई। क्योंकि दोनों में इतनी एकता है कि एक ही अर्थ निकलेगा, अथवा यह कहो कि अन्धकार की निवृत्ति हो गई तो यह नहीं कहना पड़ेगा कि सूर्य का उदय हो गया। क्योंकि निवृत्ति हो गई तो इसका मतलब है अन्धकार मिट गया।

साधक की ओर से सबसे बड़ा पुरुषार्थ इस बात में है कि वह व्यर्थ-चिन्तन के नाश का उपाय करे। व्यर्थ-चिन्तन का नाश हो गया तो अब फिर सार्थक चिन्तन के लिए कोई नया प्रयास नहीं करना पड़ेगा, इतना स्वभाविक है यह। अपने आप से होगा। क्या होगा ? कि तत्त्व की जिज्ञासा जाग्रत हो जाएगी या प्रभु प्रेम की प्यास बढ़ जाएगी। प्रेम की लालसा तो हम सब भाई-बहिनों के भीतर है, वो जरूरी भी है। जब हम उस प्रेम-रस की प्यास को संसार की सहायता से तृप्त करना चाहते हैं तो हमारा ध्यान इधर-उधर जाता है और व्यर्थ चिन्तन उदित होते हैं। लेकिन जब हम उस परम-पवित्र प्रेम-रस को ही जीवन का लक्ष्य बनाएँगे कि उसी से हमारी तृप्ति होगी, वो ही हमको भर सकता है, इधर-उधर देखना बन्द कर देंगे, तो व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा और व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा तो सार्थक चिन्तन उदित हो जाएगा, अर्थात् वह प्यास अति तीव्र होकर के प्रेम के तत्त्व में बदल जाएगी। 'स्मृति' शब्द का प्रयोग

भी किया है महाराजजी ने, स्मृति और प्रीति को एक बताया, उसी तरह से प्रेम की प्यास का अति तीव्र होना और उस रस की निष्पत्ति-उसको भी एक बताया।

अब अपने लोगों के स्तर पर क्या सोचना है ? जहाँ हम बैठे हैं वहाँ कैसा लगता है ? तो आज अपनी दशा में दोनों ही बातें मिल रही हैं। एक तो ऐसा लगता है कि सत्य की जिज्ञासा भी है, प्रभु प्रेम की प्यास भी है और संसार का सहारा भी है, और संसार के सहारे जो थोड़ा बहुत अच्छा लगता हैं, संकल्प पूरे होते रहते हैं, उसका भी कुछ ख्याल है। यह मिश्रण है हम लोगों के जीवन में- थोड़े-थोड़े अंश में संसार भी अच्छा लगता है और उसके संयोग का सुख मिल जाए तो उसे भी हम छोड़ने को राजी नहीं हैं और चाहते हैं कि उसके साथ-साथ जिज्ञासा पूर्ति का आनन्द भी आ जाए।

सत्य क्या है ? वास्तविकता क्या है ? मैं क्या हूँ ?- इन सब रहस्यों का उद्घाटन भी हो जाए अपने भीतर और परम प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम का रस भी मिल जाए- तो इस असमंजस में अभी हम लोगों के दिन कट रहे हैं। इतना अन्धकार नहीं है कि सत्य की ओर से हम लोग बिल्कुल ही लापरवाही करें, इतना अन्धकार भी भीतर में नहीं है, ऐसी जड़ता भी नहीं है। परमात्मा की याद भी आती है, सत्य की याद भी आती है, इनकी आवश्यकता भी महसूस होती है, लेकिन चेतना भी नहीं है कि उसके रास्ते के सब रोड़े एक साथ हटा दें, सो भी नहीं है। ऐसा क्यों ? ऐसा इसलिए कि अभी सत्य के बिना भी, परमात्मा के प्रेम के बिना भी संसार के संयोग की सहायता से दिन कट रहे हैं। हमको तो ऐसी दशा मालूम होती है, थोड़ा खाने-पीने में संयम हो गया, थोड़ा रहन-सहन में संयम हो गया, अपने पास सामान थोड़ा कम कर दिया, दूसरों की बुराई करते नहीं हैं, भले आदमी की तरह रहते हैं, समाज के लोग अच्छी दृष्टि से देखते हैं- इतने ही में सन्तोष हो गया।

सत्य की जिज्ञासा शिथिल है, प्रभु-प्रेम की प्यास शिथिल है, तीव्र होने ही नहीं पाती कि वह उपलब्धि का रूप धारण करे। जिज्ञासा की तीव्रता तीव्रतम हो जाती तो उपलब्धि में बदल जाती। प्यारे प्रभु के प्रेम की प्यास तीव्रतम हो जाती तो मिलन में बदल जाती। लेकिन उसको तीव्रतम होने नहीं दिया। क्या किया, कि उसके विपरीत वृत्तियों को अभी तक छोड़ा ही नहीं है। इतना ही मेरे लिए पर्याप्त है कि मैं जिस समाज में रहती हूँ, उस समाज में किसी को नुकसान न पहुँचा कर, थोड़ा अच्छे ढंग से रहन-सहन बना कर, आदृत, सम्मानित होकर दिन काट लेती हूँ। इतने में अपने को सन्तोष हो गया, इसलिए जिज्ञासा भी तीव्र नहीं हुई और प्रियता की प्यास भी तीव्र नहीं हुई, यही कारण है।

स्वामीजी महाराज अपने जीवन का अनुभव ऐसे ही सामान्यीकरण करके कहते थे। भरी सभा में बातें सब कह जाते थे लेकिन ऐसा नहीं कहते थे कि यह मेरे साथ हुआ था। आप लोगों ने सुना होगा, लेकिन है यह उनकी अपनी घटना। बता रहे थे कि आप कि भाई देखो, सत्य की जिज्ञासा और प्रिय मिलन की लालसा इतनी जोरदार होती है, इतनी तीव्र होती है कि प्यास लगी हो, हाथ में ठण्डा-मीठा जल गिलास में भरा हुआ पकड़ा हो आदमी ने, और जल पिया नहीं जाता है। क्या लगता है ?-कि किसी प्रकार से प्रभु मिलें पहले और जल पियें पीछे। क्यों, महाराज ऐसी क्या बात ? तो ऐसी बात यह है कि प्रिय-मिलन की लालसा अति तीव्र जब हो जाती है तो दूसरी सारी जरूरतें उसके सामने नगण्य हो जाती हैं। अपने लिए महाराजजी ने बताया कि मुझको तो ऐसा लगता था कि कहीं पानी की घूँट पीने में लग गए और उसी बीच में प्राण पखेरू उड़ गए तो प्रिय-मिलन की बात बाकी रह जाएगी। इसलिए हाथ में जल का गिलास है और बहुत जोर की प्यास है, लेकिन पियेंगे नहीं। हाथ का गिलास हाथ ही में रह गया, सूखे होठों तक पहुँच ही नहीं

पाया। क्यों ? प्रिय-मिलन की तीव्र लालसा ! पहले उनसे मिलो, पीछे पानी पियो-इतनी तीव्रता उसमें होती है, इतनी जागृति उसमें होती है, और स्वयं इतना सरस होता है वह, कि जब जिज्ञासा का उदय हो गया, प्रिय लालसा का उदय हो गया तो उसमें भूखे-प्यासे रहने का कोई कष्ट नहीं मालूम होता, कोई बैचेनी नहीं होती, दुःख नहीं होता, कुछ नहीं लगता। क्यों ? क्योंकि भीतर में अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न होने की लगन में ही इतना जीवन है, इतनी सरसता है कि उसके आगे शरीर का भूखे रहना और पेट भरना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा होता है।

अब हम लोग क्या करें उस जिज्ञासा की जागृति के लिए, और उस प्रिय लालसा की तीव्रता के लिए ? महाराजजी ने उत्तर दिया कि व्यर्थ चिन्तन का नाश करो। अब इन दिनों में बड़ा अच्छा अवसर है हम सब भाई-बहिनों के लिए, कि प्रातःकाल साढ़े तीन से चार तक आप चुप रहते हैं, तो मान लीजिए कि पूरी शान्ति में आधा धण्टे का समय नहीं निकलता है, भीतर में हलचल रहती है, कभी कुछ ज्यादा, कभी कुछ कम, लेकिन रहती है, तो इसका अर्थ है कि शान्ति काल में व्यर्थ चिन्तन चल रहा है, तब उस व्यर्थ चिन्तन के नाश का उपाय करो। सार्थक चिन्तन करने का प्रश्न नहीं है, व्यर्थ चिन्तन के नाश का प्रश्न है। बड़ी भारी भूल होती है कि हम व्यर्थ चिन्तन के नाश का उपाय नहीं करते, उसकी जड़ नहीं काटते और सार्थक चिन्तन में बड़े जोर से लग जाते हैं।

एक साधक सज्जन हैं, वह एक बार कहने लगे कि दीदी ! मैं तो गुरुजी के बताए हुए ईश्वर के नाम का जप करता हूँ अकेले कमरा बन्द करके, और जब भीतर में ज्यादा उपद्रव होता है, तो मैं खूब जोर-जोर से पुकारता हूँ। ऐसा क्यों करते हो भाई ? जोर-जोर से पुकारने लग जाओ तो व्यर्थ चिन्तन का कष्ट नहीं होता है, पता नहीं चलता है, होता तो है ही। सुनकर मुझे बड़ा दुःख लगा। खूब

तीव्र बुद्धि वाला बालक, माँ-बाप के लिए एकमात्र सहारा। पढ़ने-लिखने में खूब आगे निकला, काम में भी बहुत अच्छा मिला, धन भी खूब कमाया, आजीवन ब्रह्मचारी रहा, ब्याह भी नहीं किया, मन्त्र-दीक्षा भी ली, खूब जोरदार साधना भी की और जीवन में सरसता अभी तक नहीं आई। भगवान उसको देंगे सहारा, आगे मिलेगा। महाराजजी से भी उसको कई बार मिलाया। लेकिन क्रिया के वेग वाली साधना का इतना प्रभाव रहता है व्यक्ति पर, कि मानव सेवा संघ का सिद्धान्त उसको भाता ही नहीं है।

महाराजजी के पास जाओ तो कहेंगे-'कुछ मत करो।' अब बड़ा कठिन है कि कुछ मत करो। उसकी अपेक्षा यह आसान है कि भीतर-भीतर उद्‌गार, विकार सब उथल-पुथल मचा रहा है और ऊपर से जोर-जोर से खूब नाम लेते रहो, गुण गाते रहो, कीर्तन करते रहो, बाजा बजाते रहो, दस-बीस मिल कर। उसमें शक्ति भी लगती है, अच्छा भी लगता है, catharsis भी होता है, energy जो भीतर पैदा हो रही है, उसके निष्कासन का एक अच्छा रास्ता मिलता है। बुरा तो वह है नहीं, नुकसान किसी को पहुँचाएगा नहीं, समाज में अच्छी दृष्टि से देखा जाता है- ये सब बातें तो उसमें हैं ही। लेकिन व्यक्ति के भीतर जिस भगवत्-स्मृति का उदय होना चाहिए था कि जिसके बाद ही सम्पूर्ण अहं रूपी परमात्मा से मिलकर अभिन्न होता, वह घड़ी ही पैदा नहीं होती है, समय आने ही नहीं पाता है।

क्रिया का वेग व्यक्ति को स्वभाव से पसन्द आता है और शान्त रहो तो शान्ति काल में अन्दर की जो हलचल है सो अपने को बहुत पीड़ा देती है। साधक के सामने एक चित्र आता है कि इतने दिन बीत गए, अभी दस मिनिट के लिए भी शान्त रहना नहीं आया, तो पीड़ा होगी न ? यह पीड़ा उसके लिए हितकर है। लेकिन अपनी हार मनुष्य सह नहीं सकता। कुछ न करने वाली साधना बहुत कम

लोगों के गले उतरती है और कुछ करने वाली बात में लोग शामिल हो जाते हैं। सहज मालूम होता है।

जीवन का रहस्य है, उसको आप सामने रखकर देखिए ! महाराजजी ने यह कहा कि जब व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा तो सार्थक चिन्तन स्वतः उदित हो जाएगा। साधन का करना साधन होने में बदल जाएगा; भगवान को याद करना, याद आने में बदल जाएगा। करना अखण्ड होगा या होना अखण्ड होगा ? होना अखण्ड होगा। इसलिए करना हमारा खण्डित होता रहता है। आरम्भ करते हैं, अन्त होता है, लेकिन भीतर-भीतर अपने में जो जीवनी शक्ति है, वह भगवत्-स्मृति के रूप में एकबार उनसे जुट गई तो खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते सब समय वह आपके ध्यान को, आपके मन को, आपके चिन्तन को, आपके चित्त को- सबको खींच करके उसकी ओर लगाये रहती है। स्मृति उदित हो जाना बड़ा ही शुभ लक्षण है और मुझे ऐसा लगता है कि वह साधक के जीवन के पुरुषार्थ की परावधि है। पुरुषार्थ वहाँ खत्म हो गया। अब उसके आगे कुछ करना नहीं पड़ेगा, तो वह स्वतः ही हमारे को, मुझको, मेरे अहं को बदल कर नित्य तत्त्व से अभिन्न करा देगा।

महाराजजी ने कहा कि व्यर्थ चिन्तन का नाश कैसे करोगे, उसका उपाय कर लो ! क्या-क्या करें ? चार कदम बताए उन्होंने- श्रमी, संयमी, विवेकी तथा प्रेमी। श्रमी बनो, संयमी बनो, विवेकी बनो और प्रेमी बनो तो विश्राम मिलेगा। विश्राम मिलेगा तो तत्त्व जिज्ञासा और प्रिय लालसा तीव्र होगी। यह फार्मूला (formula) है। श्रमी हो सकते हैं कि नहीं ? हो सकते हैं। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से जिन धातुओं के संगठन से शरीर बना, उसमें एक प्रकार की क्रियाशक्ति का वेग पैदा होता है तो उसको खर्च किए बिना किसी से रहा नहीं जाता। लेकिन विवकीजन जो होते हैं, वो सार्थक श्रम करते हैं जो कि विश्राम में बदल जाए और अविवेकीजन जो होते हैं, वो ऐसा श्रम

करते हैं कि श्रम से श्रम ही पैदा होता है, विश्राम नहीं मिलता है। अविवेकी का श्रम कौनसा है ?- जिन सुख भोगों ने तुम्हें जन्म-मरण की बाध्यता में बाँध दिया, उन्हीं सुख भोगों में श्रमित होते रहना- यह अविवेकी का श्रम है। खूब परिश्रम करो। कभी पहाड़ पर चढ़ाई का कौतूहल आ गया तो वह परिश्रम किया और कभी धन कमाने की धुन चढ़ी तो उसी में दिन-रात लगे हुए हैं, कभी कमाए हुए धन का सुख भोगने की धुन चढ़ी तो उसी में लगे हुए हैं। जिनके पास ज्यादा सुविधाएँ रहती हैं और विवेक का नियन्त्रण जीवन पर नहीं रहता है, वे ऐसे श्रमित हो जाते हैं तन-मन से कि बाद में वे गतियों को रोकना भी चाहते हैं तो रोक नहीं पाते हैं।

मानसिक रोगों के विश्लेषण, निदान और चिकित्सा वाले अध्ययन में इस प्रकार का बहुत प्रमाण मुझको मिला है। तो वो अविवेक का श्रम है। खूब श्रम किया, खूब श्रम किया, खूब शौक पूरा करने में, खेलने-कूदने में, मान-बड़ाई खरीदने में लगा दिया, खूब श्रमित हो गए। श्रमित होते-होते प्राण-वायु, प्राण-शक्ति शेष हो गई और सुख भोगने की लालसा-तृष्णा पहले से थोड़ी और गाढ़ी हो गई। यह अविवेकी का श्रम है।

विवेकीजन कैसा श्रम करते हैं ? ऐसा श्रम करते हैं कि जिसके बाद अपने को विश्राम मिल जाए। वे सार्थक श्रम करते हैं, साधन रूप श्रम करते हैं, सेवा प्रवृत्ति में श्रमित होते हैं। सेवा प्रवृत्ति में श्रम करो तो अन्त में विश्राम मिलेगा; साधन रूप श्रम हो गया तो अन्त में विश्राम मिलेगा; सार्थक श्रम हो गया तो वह अपने आप से विश्राम में बदल जाएगा और प्रेमी होकर श्रम करो-यह प्यारे प्रभु की सृष्टि है, यह प्यारे प्रभु का काम है, यह सब प्रभुरूप ही है-ऐसा मान करके बड़े प्रेम के साथ प्रभु की पूजा के रूप में श्रमित हो-तो श्रम के बाद बहुत विश्राम मिलता है।

अब आगे कहा है कि, संयमी रहो। संयमी किस बात में ? हर

क्रिया में संयम रखना है- खाने-पीने में, सोने-जागने में संयम रखना है। उतना ही खाओ-पिओ जो शरीर के लिए हितकर हो, आवश्यक हो; उतना ही रखो जितने में तुम्हारा कम से कम में काम चल जाए। हर बात में संयम रखो- वाणी में संयम, कर्म में संयम, हाथ-पाँव की क्रियाशीलता में संयम, खान-पान में संयम, निद्रा में संयम-सब में संयम। साधक के जीवन में सर्वेन्द्रिय-संयम का बड़ा महत्त्व है। तो विवेक-युक्त श्रम हो गया, विवेक-युक्त संयम हो गया, विवेक-युक्त त्याग हो गया और प्रेम-पूर्वक सब व्यवहार हो-भाव से, मन से, वचन से, कर्म से। इन चारों व्रतों के पालन करने से व्यर्थ चिन्तन मिट जाएगा, और व्यर्थ चिन्तन मिट जाएगा तो सार्थक चिन्तन उदित होगा और सार्थक चिन्तन उदित हो जाएगा तो हम लोगों के पुरुषार्थ की पराकाष्ठा हो जाएगी, फिर और कुछ करना नहीं रहेगा, सब हो जाएगा।

(76)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव हैं। मानव होने के नाते साधक हैं और साधक होने से जीवन की सफलता पर विचार करने बैठे है, तो अपने संबंध में एक विशेष बात जो ध्यान में रखने के लिये है, वह यह है कि जब भौतिक तत्त्वों से रचे हुए शरीरों के अतिरिक्त अलौकिक तत्त्वों से रचे हुए 'मैं-पन' का भास व्यक्तित्व में है, तो शरीर दिखाई देता है, इस आकृति को देखकर, स्थूल दृष्टि से, इसी को बहुत अधिक महत्त्व दे देना अपनी भूल है। एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व ले लीजिए। मनुष्य के व्यक्तित्व में तीनों शरीर भी है और शरीरों के अतिरिक्त अशरीरी तत्त्व भी है- जिसको 'मैं' कहकर हम लोग सम्बोधित करते हैं। सब मिलाकर एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व बनता है।

उसमें से केवल शरीरों को महत्त्व देना कि ठीक प्रकार से निर्वाह हो जाए और संसार के सम्पर्क से अधिक से अधिक सुख मिल जाए- ऐसा सोचना, यह अधूरी बात होती है।

अब आप सोचकर देखिए कि जन्म से लेकर अब तक जो समय हमने इस संसार में बिताया वह केवल शरीर और जगत् के अभियोजन में ही बिताया। किसी तरह से सुखपूर्वक, सम्मानपूर्वक रहना हो जाए- इसी पर पूरा ध्यान दिया, इसी पर सारी शक्ति लगाई है। और यह सब करते-करते अपने को निर्बलता, पराधीनता, नीरसता सता रही है। ऐसी दशा इसलिए हो गई कि हमने भूल की। हमने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सामने नहीं रखा।

मनुष्य जन्म लेता है, शरीरधारी होकर जगत् में आता है तो ज्ञानात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक- ये सारे पहलू उसके साथ होते हैं। जो सबसे पहली प्रतिक्रिया होती है मनुष्य के जन्म के बाद, cognitive aspect उसको कहते हैं, वह ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया होती है। 'मैं-पन' का भास, 'मैं हूँ'- यह पहले मालूम होता है, उसके बाद उसको अपने से भिन्न एक जगत् दिखाई देता है, धीरे-धीरे दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बहुत देर में काम करना शुरू करती हैं। सबसे पहली प्रतिक्रिया होती है 'मैं-पन' का भास- यहाँ तक तो वैज्ञानिक लोग अध्ययन के द्वारा जानते हैं।

अब दार्शनिक दृष्टिकोण अपने सामने रखिए। शरीरों का बन जाना, बदल जाना, बिगड़ जाना-यह तो एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। उसके द्वारा यह सब बातें क्रमिक ढंग से स्वतः ही होती रहती हैं। लेकिन 'मैं-पन' का भास, जो हम लोग को जन्म के समय से रहता है, वह शरीरों के नाश के समय भी रहता है और शरीरों के नाश होने के बाद भी रहता है और कुछ लोगों को फिर नए शरीर धारण करने के बाद भी उसकी याद रहती है। आज जीवन का यह सत्य हम सब लोग अपने सामने रखें और उसका आदर करें तो साधना

के पथ में बड़ी सहायता मिलेगी। वो क्या है ? कि शरीर बना है भौतिक तत्त्वों से, जिसमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है; और 'मैं-पन' बना है अलौकिक तत्त्व से, जिसका कि नाश नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो अथवा न हो, लेकिन है यह सत्य ! इसीलिए इस सत्य को स्वीकार कर हम लोग साधन में अधिक तत्पर हो सकते हैं।

अब दूसरी बात। अनुभवी सन्तों ने हम लोगों को बता दिया कि देखो, धरती में आकर्षण शक्ति है, उस आकर्षण शक्ति से सब भौतिक तत्त्व धरती की ओर आकर्षित रहते हैं। इतनी-सी बात सामान्य ज्ञान (General knowledge) की तो आप सबको मालूम ही होगी। जैसे- वृक्ष में फल पक गया, डण्ठल की पकड़ ढीली हुई तो धरती के आकर्षण से खिंच करके वह जमीन पर आ गिरा। गोलाकार पृथ्वी, चलती हुई गतिशील पृथ्वी और उस पर हम लोग चलते-फिरते, उछलते-कूदते, अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। हमारे शरीर का सन्तुलन, जो सँभाल करके रखा जाता है इस धरती पर, वह धरती की आकर्षण शक्ति से सँभाला जाता है- यह भी आप लोगों ने सुना होगा। महाराजजी ने एकबार ऐसे बताया कि देखो, जैसे भौतिक तत्त्व भौतिक तत्त्वों के आकर्षण से धरती की ओर सब खिंचे रहते हैं, उसी प्रकार से यह 'मैं-पन' जो है, उसका उद्‌गम-जो सर्वउत्पत्ति का आधार, सर्वप्रतीति का प्रकाशक है, वह इस 'मैं-पन' को अपनी ओर खींचता है तो दोनों अपनी-अपनी सजातीयता में खिंच गए-भौतिक तत्त्वों का खिंचाव धरती की ओर हो गया और 'मैं-पन' का खिंचाव उस अनन्त तत्त्व की ओर हो गया। यह बात पकड़ में आती है न ?

अब देखिए मनुष्य के व्यक्तित्व में दोनों ही बातें एक साथ होती हैं। शरीरिक और मानसिक सुखों को लेकर वह जगत् की ओर भी आकर्षित होता है और अपनी शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता को

लेकर परमात्मा की ओर भी आकर्षित होता रहता है। आप सबको अपने जीवन में ऐसा लगता होगा। यह किसी जाति की बात नहीं है; किसी वर्ग, सम्प्रदाय, मजहब की बात नहीं है; पढ़े-लिखे, बेपढ़े-लिखे होने की भी बात नहीं है। यह तो मानव-मात्र की, साधक-मात्र की अपनी बात है। शरीरों की जरूरत सामने आती है तो हम लोग जगत् की ओर खिंच जाते हैं। भूख लगी है तो भोजन के पास चलो, प्यास लगी है तो जल से सम्बन्ध जोड़ो, किसी प्रकार की मानसिक खुराक चाहिए, सुख-दुःख को बाँटने के लिए, तो समाज के साथ जुड़ जाओ। तन और मन की जरूरत को सामने रखकर हम संसार की ओर आकर्षित होते हैं। और अपनी जरूरत, जो शान्ति, स्वाधीनता और परम-प्रेम है, उस आवश्यकता से प्रेरित होकर हम अभौतिक तत्त्व की ओर आकर्षित होते हैं, अलौकिक तत्त्व की ओर आकर्षित होते हैं, अनादि, अनन्त, अविनाशी सत्य की ओर आकर्षित होते हैं। बहुत ही स्वाभाविक बात है। और इस दुविधा में पड़े हुए बहुत दिन बीत गए हम लोगों को। अनेकों जन्म बीते होंगे, तो जाने दें, जन्म की बात छोड़ दीजिए। इसी जन्म के अनेकों वर्ष हमने इस दुविधा में बिताए।

हमारे भीतर एक ही जीवनी शक्ति है, उसी को कभी शरीरों के साथ जुटाकर संसार के सुख भोगों में झोंक दिया और उसी को लेकर कभी शान्ति-सम्पादन के द्वारा योग सिद्धि में, स्वाधीनता प्राप्ति में, परमात्मा की भक्ति में लगा दिया। एक ही जीवनी शक्ति है। एक ही life force है ! उसको dynamic force भी कहते हैं, जो कि व्यक्ति को गतिशील बनाता है-वह एक ही है। पूँजी एक ही है और प्रकृति के विधान से, सृष्टिकर्त्ता के विधान से, नाप-तौल के हम लोगों को, सब किसी को मिली हुई है। अब उसी शक्ति को लेकर जब शरीरों के माध्यम से संसार का सुख-भोग पसन्द करो तो यह शक्ति बाह्य जगत की ओर प्रवाहित हो जाती है; और अपनी

आवश्यकता को लेकर योगवित् होना पसन्द करो तो यह शक्ति बाहर की ओर से खिंचकर अपने भीतर केन्द्रीभूत होकर उद्‌गम से जुट जाती है। दोनों ही बातें स्वभाव से होने वाली हैं। अन्तर क्या है ?- कि बनने-बिगड़ने वाले शरीरों पर ज्यादा ध्यान देंगे, अधिक समय बिताएँगे, उसकी प्रवृत्तियों के लिए अधिक शक्ति खर्च करेंगे तो शक्ति खत्म हो जाएगी और वासना शेष रह जाएगी। यह एक क्षति हो जाएगी। बल खत्म हो जाएगा और सुख भोगने की इच्छा रह जाएगी। यह एक घाटा लग जाएगा। यह जिन्दगी की हार हो जाएगी। बहुत दुःख की बात हो जाएगी। उसके विपरीत जब मालूम हो गया कि शरीर तो नाशवान है ही, उसका तो नाश होगा ही, इसलिए जब तक यह काम के लायक है तब तक साधन-सामग्री के रूप में इससे काम ले लो। अगर ऐसा निश्चय किया आपने, तो बहुत आराम मिलेगा। यह केवल दृष्टिकोण परिवर्तन की बात है। आप केवल इतनी-सी बात को अपने द्वारा स्वीकार कर लें तो बहुत सहायता मिलेगी। अब तक हमने क्या सोचा था कि शरीर की सहायता से जितना सुख मिल सके संसार का, उतना ले लो। उसके परिणाम में दुःख-भोग मिला, असमर्थता मिली, अभाव मिला और मृत्यु मिली- यह अपनी जानी हुई बात हो गई।

जीवन के सत्य पर विचार करने से ऐसा लगा कि इस मिटने वाले शरीर के अलावा मेरा अपना अस्तित्व भी तो है। इस 'मैं' की आवश्यकता क्या-क्या है ? इसमें तो योग, बोध और प्रेम की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति अगर हो गई तो जन्म-मरण का झंझट सदा के लिए मिट जाएगा। योग, बोध और प्रेम की बात अगर पूरी हो गई तो संयोग-वियोग और मान-अपमान-सम्मान की बात सदा के लिए खत्म हो जाएगी। इस 'मैं-पन' की जो असली जरूरत है, उसको जो लोग दृष्टि में रखते हैं उनके लिए सेवा-त्याग-प्रेम की साधना कठिन नहीं पड़ती है।

साधना तो सब भाई-बहिनों ने बहुत पहले ही आरम्भ कर ली होगी, परन्तु अब तक उसमें अगर सफलता नहीं मिली तो इतनी-सी बात और सोच लीजिए कि क्यों नहीं मिली ? साधन सजीव नहीं हुआ। साधन और जीवन में एकता नहीं हुई। क्यों नहीं हुई ? कि नाशवान को हमने अधिक महत्त्व दिया, उसको सँभालने में अधिक समय और शक्ति लगाई और जो अपना जीवन है, जो अपनी आवश्यकता है, जो कभी न मिटनेवाली शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता है, उस पर ध्यान नहीं दिया इसलिए काम नहीं बना। तो अब क्या करना चाहिए ? बहुत पढ़ने से यह काम नहीं बनेगा, बहुत बोलने से यह बात नहीं बनेगी, बहुत सुनने से यह बात नहीं बनेगी। अभी इसी जगह बैठे-बैठे जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदल डालिए। कैसे बदलें, कि अब तक हम नाशवान पर विशेष ध्यान दे रहे थे, उसी को सँभाल रहे थे। अब हम अविनाशी जीवन को अधिक महत्त्व देंगे, सर्वाधिक महत्त्व देंगे-ऐसा मान लें।

दृष्टिकोण बदलना साधक का बहुत बड़ा पुरुषार्थ मैं जानती हूँ और अब तक लोगों ने यही किया है। आपने महात्मा शहंशाहजी का नाम सुना होगा। उनके जीवन की दो-चार घटनाओं को मैं सुनाती रहती हूँ। काश्मीर दरबार में जब उनको नौकरी नहीं मिली तो संसार की ओर से निराशा हुई। युवावस्था थी, असाधारण बुद्धि का स्तर था और उस समय ग्रेजुएट होना बहुत बड़ी बात थी, सो उच्च शिक्षा भी और काम करने की इच्छा भी-धन कमाने के लिए गए थे। घर में विधवा माता और उनको सुख आराम देने की इच्छा भी थी। इन सारी बातों को लेकर काश्मीर दरबार में गए। प्रधानमंत्री पिण्डीदासजी से भेंट करना चाहते थे तो एक दिन समाचार मिला कि आज फुर्सत नहीं है, नहीं मिलूँगा। दूसरे दिन समाचार मिला कि आज बीमार हूँ, नहीं मिलूँगा। कुछ भी हो 'नहीं मिलूँगा'- यह उत्तर उनको मिला। केवल इतनी-सी बात से एक महापुरुष में इतनी

जागृति आ गई कि काश्मीर दरबार से उठकर के वे घर गए ही नहीं। सोच लिया कि अच्छा, इसका नाम संसार है ! मैं मिलने के लिए हाजिर होऊँ, मिलने के लिए निवेदन करूँ और संसार इन्कार करे। ठीक है, उससे मिलकर क्या लेना, जो मिलने से इन्कार करता है। एकदम से दृष्टिकोण बदल गया। काश्मीर दरबार में नौकरी नहीं मिली तो दूसरी जगह मिल सकती थी और दो-चार जगह ठोकर खा सकते थे, लेकिन वे जाग्रत पुरुष थे ! एक सचेत मानव थे ! एक ही उदाहरण से सीख लिया उन्होंने, और ठान लिया कि अब तो मैं उसी से मिलूँगा जो मिलने से इन्कार नहीं करता। अब तो मैं उसी की सर्विस में रहूँगा जो बीमार नहीं पड़ता। एक ही उदाहरण से संसार को इन्कार कर दिया उस महापुरुष ने, तो उनका काम बन गया। यह केवल दृष्टिकोण का परिवर्तन ही तो था। अब मैं सत्य के ही संग में रहूँगा, उसी का होकर रहना पसन्द करूँगा, उसी से मिलूँगा, उसी की सर्विस में रहूँगा-इस निश्चय को करने के लिए इस बात की पुनरावृत्ति करनी पड़ी ? माला जपनी पड़ी ? सो तो कुछ नहीं !

इसी को सत्संग कहते हैं। जीवन की घटनाओं के प्रकाश में असत् के महत्त्व को इन्कार कर देना और सत्य के महत्त्व को स्वीकार कर लेना- यही तो हमारा पुरुषार्थ है। चमड़े का रंग काले से सफेद हो जाएगा कि नहीं, इसमें तो कोई भी हाँ नहीं भर सकता। प्रकृति की बहुत-सी बातें हैं कि जिनमें हम लोग परिवर्तन नहीं ला सकते। उसके विधान से जो परिवर्तन होता है, सो होता है। हमारे बस की बात नहीं। लेकिन वही मनुष्य अपने ज्ञान का, अपने विवेक का अनादर करके अपनी मिट्टी पलीद करता रहता है और वहीं मनुष्य अपनी जागृति से अपनी चेतना का आदर करके अनमोल जीवन को पाता है, तो मनुष्य ही तो ऐसा कर सकता है। और जो शरीर के सम्बन्ध से संसार की ओर आकर्षित था, वही तो

उधर से अपने को हटा करके सत्य की ओर आकर्षित हो गया। इसमें कितना समय लगा ? समय की बात तो नहीं है। इसमें कितना परिश्रम लगा ? परिश्रम की बात भी नहीं है। सत्य का आदर करने में, निज विवेक के प्रकाश का आदर करने में समय और शक्ति खर्च करने की बात नहीं है। बहुत धीरज से, बहुत गम्भीरता से इस विषय पर विचार करिये। बड़ी भूल होती है अपने से। मैंने अपने को इस प्रकार की भूल में अनेकों बार पाया है और सावधान किया है। जब दोनों ही बातें सामने आ जाती हैं कि भाई, यह तो व्यावहारिक क्षेत्र है और इतना काम तो इस रूप में होना ही चाहिए, तो एक उल्टी उलझन में फँसना और एक केवल अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से, केवल राग-निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति में हाथ डालना और प्रवृत्ति की सामर्थ्य प्राप्त करना, फिर प्रवृत्ति से निवृत्त होकर निजस्वरूप में रहना, निज प्रभु की मधुर स्मृति में खोना-दोनों ही बातें सामने आती हैं। आप भाई-बहिनों के सामने भी आती हैं। आप भी उनको जानते हैं, देखते हैं, समझते है। अन्तर केवल इतना है कि अगर निज विवेक का आदर किया, अलौकिक, अविनाशी जीवन को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना, तो यह बाहरी बातें जो हैं, वे महत्त्वहीन हो जाती हैं तो कितनी निश्चिंतता आ जाती है।

अभी एक महिला मुझे मिली थी। वे एक साधक की चर्चा सुना रही थी कि बड़ा ही सुख का साम्राज्य उनके सामने था और सत्संग में जाने पर उन्हें बहुत अच्छा लगने लगा। ध्यान देकर सुना होगा और जैसे मैं निवेदन करती हूँ कि बैठे ही बैठे जीवन का दृष्टिकोण बदल जाता है- ऐसा उनका बदल गया। फिर पहले की तैयारी भी रही होगी- बैठे ही बैठे उनके भीतर खूब शान्ति छा गई। कुछ घंटे वहाँ बैठने में ही निकल गए। उसके बाद जब आँखें खुलीं तो उन्होंने कहा कि अहा ! अपने भीतर इतना आनन्द ! ! अपने भीतर इतनी शान्ति ! ! ! अब मैं इस सुख का साम्राज्य लेकर क्या करूँगा ? तो

सब कुछ इन्कार कर दिया। नहीं, नहीं, यह सब कुछ नहीं। मेरा जीवन तो मेरे भीतर ही है, मेरी शान्ति तो मेरे अन्तर में ही है और इतना आराम है उसमें, कि उसके आगे यह बाहर का सुख क्या है ? कुछ भी नहीं-कहकर उन्होंने सब कुछ इन्कार कर दिया और अपनी साधना में अधिकाधिक गहराई में उतरते चले गए। उनका काम बन गया तो यह दूसरी बात हो गई।

'मैं-पन' का नाश नहीं होता है, इसलिए मृत्यु के भय की कोई बात ही नहीं है। फिर मिले हुए शरीर का क्या तात्पर्य है ? इसको साधन-सामग्री हम लोग बना लेंगे और संयम-नियम के साथ आरोग्य पर ध्यान रखकर, शरीर के लिए हितकारी पदार्थो को अर्पण करेंगे इसे। खुराक में, वस्त्र में, रहन-सहन में, जागने-सोने में-सब बातों में शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखना शरीर की सेवा है और साधकों के लिए अनिवार्य है। उसके बाद उसके आरोग्य को लेकर, उसके बल को लेकर क्या करेंगे ? तो पहले जो इसके संयोग ने सुख भोगने में राग उत्पन्न कराया था, उसके नाश के लिए दुःखीजनों की सेवा करेंगे। इतनी-सी बात शरीरों के सम्बन्ध में ध्यान देने की है। संयमपूर्वक रहो, सदाचारपूर्वक रहो, उसकी सेवा के लिए हितकारी आहार, विहार, संयम-यह सब रखो। और बल भी उसमें मिलेगा, उसका क्या करेंगे ? तो जो उसमें बल है उसके द्वारा दुःखीजनों की सेवा करेंगे ? इससे क्या फल मिलेगा ? कि शरीरों के साथ सुख भोगने की वासना खत्म हो जाएगी ! तो नया राग बनेगा नहीं, पुराना राग मिट जाएगा और जब आप राग-रहित हो जाएँगे तो शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाएगी। मृत्यु आपका स्पर्श नहीं कर सकेगी। जैसे दुनियाँ की बहुत-सी चीजें बन रही हैं, बदल रही हैं, मिट रही है, उसी तरह समय पाकर के इस शरीर का भी नाश हो जाएगा, लेकिन उसके प्रभाव से आपको न भय होगा, न चिन्ता होगी, न दुःख होगा। यह लौकिक पहलू का उपयोग हो गया।

सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर हम लोग विचार कर रहे हैं न, तो अब अपनी बात देखो। राग-रहित हो जाओ तो सब काम बन गया। क्या-क्या हो गया ? कि जब अपने में राग नहीं रह जाता है तो शरीर और संसार से लगाव छूट जाता है। बहुत ही वैज्ञानिक आधार मुझे मिला इस सत्य को समझने के लिए और सन्त के पास बैठकर प्रमाण भी मिला कि सचमुच ऐसा होता है। कैसा ? कि जो जो साधक- मैं आपकी चर्चा करती हूँ, आपकी चर्चा से मतलब कि जो इस प्रकार के द्वन्द्व के बीच में चल रहे हैं कि थोड़ा खिंचाव संसार की ओर, तो थोड़ा खिंचाव परमात्मा की ओर- ऐसे जो व्यक्ति हैं उनकी बात मैं करती हूँ। उनके साथ क्या होता है, जब वे अपने लिए शरीर की आवश्यकता नहीं मानते हैं, तो उसे वे जगत् की सेवा में लगावेंगे। सेवा के फल से राग-रहित होने का बल मिलेगा, राग-रहित होने की ताकत आएगी। तो यह भी अपने उत्थान के लिए हो गया। जैसे-जैसे संसार की, शरीर की आवश्यकता खत्म होती है, वैसे-वैसे अपने में से राग मिट जाता है, वैसे ही शरीरों से अतीत का जो अपना अस्तित्व है उसका अनुभव होने लगता है। अब ईंट-पत्थर की बनाई हुई कुटिया के भीतर बैठकर होगा कि घास-फूँस की बनी हुई झोंपड़ी के भीतर बैठकर होगा, पहाड़ की गुफा में बैठकर होगा कि खुले आसमान के नीचे बैठकर होगा, गंगाजी के तट पर बैठकर होगा कि मरुभूमि में बैठकर होगा ? कोई भेद नहीं है। शरीर है, चाहे जहाँ रहे और जैसे रहे। अगर उसका राग अपने में से निकल गया तो वह कहीं न कहीं, किसी न किसी स्थान पर तो रहेगा ही। यदि आपके भीतर उसकी आवश्यकता नहीं रही, तो उससे परे जो आपका अपना जीवन है, उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। लगाव छूट जाता है। तादात्म्य टूट जाता है और योग-बोध-प्रेम की अभिव्यक्ति से जीवन पूर्ण होता है। अब इसका प्रयोग अपने को करना पड़ेगा। एकबार जीवन के सत्य पर विचार करने के बाद अगर उसका प्रयोग

आरम्भ कर दें, तो बहुत जल्दी अपने अनुभव में बात आ जाती है। प्रयोग को मैं बहुत आवश्यक मानती हूँ।

विविध प्रकार के साधकों की सेवा में, उनके कल्याणार्थ, स्वामीजी महाराज ने मूक-सत्संग को रखा। भाई ! सब-कुछ करने के बाद 'कुछ न करने' वाली साधना आपके जीवन में रहनी चाहिए। 'कुछ न करना'-यह बात विचार-पन्थ के साधकों के काम आती है और विश्वास-पन्थ के साधकों के भी काम आती है; क्योंकि यह तो अहं-शून्य होने की बात है। जब तक कुछ-न-कुछ करते रहने की आवश्यकता रहेगी, तब तक अहंकृति में स्फुरण होता ही रहेगा- कि अब मुझे ऐसा-ऐसा अनुष्ठान करना है, अब मुझे यहाँ जाना है, अब मुझे इतना जप करना है, अब मुझे ऐसा तप करना है, अब मुझे इतना अध्ययन करना है, अब मुझे इस चिन्तन में लगाना है। अशुभ कर्मों को तो छोड़ दो। उनके लिए तो अपने जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जो साधन के रूप में कर्म और चिन्तन के अच्छे-अच्छे तत्त्व हैं, उनके लिए भी मैं कह रही हूँ कि उनको भी करने का संकल्प जब तक रहेगा तब तक शुद्ध होने पर भी अहं रहेगा। कुछ न करना है तो शरीरों की सहायता ही से ही करना सम्भव होता है और शरीरों का तादात्म्य तोड़ने पर ही सत्य की अभिव्यक्ति अनुभव में आती है। तो कुछ-न-कुछ करने की बात रहेगी, तो शरीरों से लगाव रहेगा। इधर की ओर लगाव रहेगा, तो उधर की अनुभूति नहीं होगी। इसलिए सब-कुछ करने के बाद, कुछ न करने वाली साधना हर प्रकार के साधकों के लिए अनिवार्य है।

अब विश्वास-पथ की दृष्टि से बहुत सहज होता है। क्या होता है कि हम लोग भगवत्-विश्वासी होने के नाते उनके आश्रित होकर रहना पसन्द करते हैं, उनकी शरणागति ही अपना सम्बल है, तो अनुभवी सन्त ने ऐसी सलाह दी- कि बिना देखे, बिना जाने एकबार 'उनकी' सत्ता को स्वीकार करके उनसे अपनी आत्मीयता मान लो,

आत्मीयता स्वीकार कर लो। 'हे प्रभु, मैं तेरा !' 'हे प्रभु, तू मेरा !' जिसमें जितनी रुचि हो, जिसमें जितना साहस हो वैसा ही वह स्वीकार कर ले ! 'हे प्रभु, तू मेरा !' यह भी मनुष्य ही कहता है और उसमें कितनी बहादुरी है ! देखिए पल-पल में तिल-तिल गलने वाला, मिटने वाला शरीर लेकर हम धरती पर चलते-फिरते हैं, नाशवान् शरीर को लेकर नाशवान् जगत् में रहते हुए कितनी बहादुरी से कहते हैं कि, 'हे प्रभु ! तू मेरा', तो मुझ ससीम के लिए उस असीम से सम्बन्ध मानना सहज है, स्वाभाविक है ! कितनी बहादुरी है कि स्थूल दृष्टि से जगत् को देखते हुए उस अलख, अगोचर को हम अपना बना लेते हैं ! मनुष्य की इस स्वीकृति में बड़ा बल है ! जब-जब नाशवान् से नाता जोड़ते हैं तो उसका परिणाम हमारे सामने आ जाता है। अविनाशी से जो सदा-सदा का नाता है, उसको अगर जीवन में प्रधानता हम देंगे, तो उसका प्रभाव अपने में नहीं आएगा ? अरे भाई ! मरने-जीने वाले सम्बन्धियों से अपना सम्बन्ध मान लेते हैं तो उनका संयोग-वियोग तुम्हारे सिर पर चढ़ जाता है, और कभी न बिछुड़ने वाले को अपना मानोगे तो उसका अनन्त, अखण्ड आनन्द तुम्हारे पास नहीं आएगा ? अवश्य आएगा। इतनी-सी बात है। इसीलिए मीराजी ने कहा :-

"ऐसे वर को क्या वरूँ रे, जो जन्मे अरू मरि जाए,
वर वरिये इक साँवरियो रे, चूड़लो अमर होइ जाए।"

कितनी बहादुरी है देखो ! यह पुरुषार्थ हम सब भाई-बहनों को करना है। बड़ा अच्छा होता है उसका परिणाम।

प्रातःकाल सोकर जगते ही सबसे पहला प्रोग्राम व्यक्तिगत सत्संग है। उस व्यक्तिगत सत्संग में अपने उस जीवनाधार को, अपने उस सर्वेश्वर को, उस परम प्रियतम को याद करके और उनकी कृपा का आश्रय लेकर उनकी शरण में अपने को डाल दो और शान्त रहो। स्वयं को तो कुछ करना नहीं है, और अपने को कुछ चाहिए

भी नहीं। जगत् से कुछ चाहिए नहीं, और जगत्पति से कुछ माँगने की जरूरत नहीं है। क्यों नहीं है ? कि वो जानते नहीं हैं क्या, कि मुझे क्या चाहिए और क्या नहीं चाहिए ? और बहुत-सी बातों को हमारे बिना माँगे उन्होंने दे दिया तो अब जो सबसे जरूरी बात है कि उनकी प्रीति मुझमें उदित हो जाए, इसको भी कहना पड़ेगा ? ऐसी बात नहीं है। मुझे क्या चाहिए ? मेरे लिए क्या हितकर है ? हमारे उनके बीच की जो दूरी भासित हो रही है वह कैसे मिटेगी ? इस बात को मेरे परम हितचिन्तक, मेरे प्रेमास्पद मुझसे बहुत अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए कुछ कहने की बात नहीं है ! और फिर तुम्हारी हिम्मत ही कितनी है ! उतना तो तुम माँग ही नहीं सकते जितना देने में वे समर्थ हैं। इसीलिए कुछ माँगने की बात ही नहीं है।

कोई-कोई साधक कहने लगते हैं कि तब क्या करें ? उस शान्ति काल में नाम का जप करें ? अरे भाई ! कुछ करने की बात तो रखो मत ! यदि कुछ किए बिना न रहा जाता हो तो अलग से उसका समय निकाल लेना, और भी कोई बात हो तुम्हारे जीवन में, करने वाली साधना हो, तो उसको भी कर लेना ! लेकिन थोड़ी देर के लिए कुछ न करने की बात सब में समान रूप से फलदायक होती है। इसीलिए कुछ करो मत।

जब उनकी कृपाशक्ति का आश्रय लेकर छोड़ दिया जाए अपने को, तो उनकी कृपा का जो प्रभाव है, वह बहुत प्रत्यक्ष हो जाएगा अपने लिए ! कृपा तो उनकी सदैव होती है, लेकिन जब हम अपने अहं का अभिमान लेकर दुनियाँ में रहते हैं, तो उस अहं के अभिमान से कठोरता आ जाती है। आँखों में जड़ता छा जाती है, तो परम कृपालु की कृपा का दर्शन नहीं होता।

अहं के अभिमान को छोड़कर बिल्कुल अबोध बालक की तरह करुणामयी जननी की गोद में अपने को छोड़ दो। जिस समय हम

अहं-शून्य होते हैं, उसी समय तत्काल सत्य के संग में होने का अनुभव हो जाता है ! यह एक ही दिन में हो सकता है ! यह एक ही बैठक में हो सकता है। मनुष्य के जीवन में इस जगत् में रहते हुए अगर कोई प्रत्यक्ष सत्य है, तो वह सत्य के उपस्थित होने का अनुभव ही है। अगर कुछ प्राप्य है, तो प्रभु की समीपता का अनुभव ही प्राप्य है। अगर इस जीवन को कुछ भर सकता है, तो उस परम प्रेमास्पद के प्रेम का रस ही भर सकता है, और नहीं तो जन्म-जन्मान्तर कंगाल बने दुनियाँ में फिरते रहो-

मैंने अपने कँगलेपन का दर्शन किया था। बाहर से सिर ऊँचा करके, डिग्री का एक आभास लेकर, Sence of superiority लेकर समाज में विचरण करते हुए भीतर-भीतर मैं महाकंगाल थी। कुछ था ही नहीं अपने में। महाराजजी के सामने बैठकर के इस कँगलेपन का वर्णन किया करती थी तो महाराजजी कहते कि देवकीजी, मनुष्य के जीवन का सम्मान घटाओ मत। लेकिन मैं क्या करती ? अपनी कंगालियत को मैंने अपने द्वारा अनुभव किया और उस अपमान को सह नहीं सकी। तो विश्व का भरण-पोषण करने वाले विश्वम्भर ने उस कंगालियत को मिटाने का रास्ता मुझे पकड़ा दिया। वह बड़ा कल्याणकारी मेरे लिए हो गया। इसीलिए प्रभु के ही प्रतिरूप मेरा बोलने का राग मिटाने के लिए आप जो श्रोता, मेरे आत्मीय, बैठे हैं, उनके सामने इस भाषा को दोहरा देती हूँ कभी-कभी। क्योंकि इससे जब अपने आत्म-सम्मान में ठेस लगती है, तो चेतना जगती है, जिससे जीवन भर सकता है। उसकी ओर आगे बढ़ने में तत्परता आती है।

मैंने सन्तों की वाणी में सुना, आनन्दमयी माँ से भी सुना, स्वामीजी महाराज से भी सुना और उच्च-कोटि के अनुभवी सन्त के पास बैठकर के अनुभव भी किया कि यह जो जीवन का परिवर्तन है, इधर से छूट करके उधर हो जाना, सारा का सारा बदल जाना, भ्रम

का नाश होकर उसके दर्शन में कृत-कृत्य हो जाना- यह सब बातें पलक मारते हो जाती हैं। देर नहीं लगती। अब यह दूसरी बात है कि उस जीवन में हमारा कितना अनुराग है ? उसमें हमारी कितनी निष्ठा है ? पुराने सब रागों का प्रभाव मिट चुका है कि नहीं ? मैं तो कहती हूँ कि उसमें से हटकर कब मेरा इन स्थूल आँखों से सम्बन्ध जुड़ गया और फिर कब मुझे संसार दिखाई देने लग गया-इस पर जब मैंने सोचा तो मुझे साफ दिखाई दिया कि नए राग तो पैदा होंगे नहीं, और पुराने जो रह गए होंगे, जिनका नाश नहीं हुआ है उन्हीं के प्रभाव से फिर शरीरों से तादात्म्य हो जाता है और संसार दिखाई देने लग जाता है। इससे कोई हानि नहीं होती। एक बार भी वास्तविक जीवन की झलक को जिसने पा लिया वह फिर से संसार में खोयेगा नहीं। साधन बुद्धि से रहेगा, साधन बुद्धि से सेवा करेगा, साधन बुद्धि से विचरण करेगा। रहे सहे राग की निवृत्ति हो जाएगी, अवधि पूरी हो जाएगी। वह भी उसके लिए उपयोगी हो जाएगा। वे परम करुणासागर, मंगलमय जीवन के मंगलमय विधायक सब करा के छुट्टी दिला देंगे। ऐसा होता है। ऐसा हो सकता है। चौबीस घण्टे में कई बार थोड़ी-थोड़ी देर के लिए न करने के जीवन में ठहरना पसन्द करो तो अनुभव में आ जाएगी बात।

(77)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव जीवन की समस्याओं पर हम लोग विचार कर रहे हैं। अपने विचार-विमर्श से हम लोगों ने पाया कि मानव जीवन का सुन्दरतम चित्र जो है वह सत्संग के प्रभाव से ही अभिव्यक्त होता है। इस जीवन की विशेषताओं पर ध्यान दें, तो हम पाएँगे कि इस जीवन में एक ओर जहाँ संसार के प्रति आकर्षण मालूम होता है,

दूसरी ओर इसी व्यक्तित्व में सत्य की खोज भी रहती है; और उसी में अनन्त अगाध प्रेम-रस की प्यास भी रहती है। निरन्तर परिवर्तनशील दृश्यों के प्रति आकर्षित होना-यह भी हमने अपने में पाया और निर्माण-विनाश के क्रम को देखकर, सत्य क्या है, जीवन क्या है, सदा के लिए रहनेवाला क्या है, यानि सत्य की खोज यह भी मनुष्य के जीवन की स्वाभाविकता है; और ऐसा संयोग बने कि कभी वियोग न हो, ऐसी प्रियता जीवन में रहे कि जिसकी कभी क्षति न हो- यह माँग भी मनुष्य के जीवन में है। इसी से प्रेरित होकर हम सब भाई-बहन संसार के साथ भी सम्बन्ध बनाते हैं और अदृश्य परमात्मा की भी चर्चा करते हैं।

आप सोच करके देखिए कि परमात्मा की आवश्यकता परमात्मा को तो है नहीं, और जड़ जगत् को भी नहीं है। वनस्पति, धरती, आकाश, पत्थर- इनको परमात्मा की आवश्यकता नहीं है, वे महसूस नहीं करते हैं। तो जड़-जगत् को भी परमात्मा की आवश्यकता नहीं है और परमात्मा स्वयं अपने आप में पूर्ण है, सर्वज्ञ है, उसको तो जरूरत हो ही नहीं सकती। यह मनुष्य ही संसार के सम्बन्ध में विविध प्रकार की धारणाएँ बनाता है और विविध प्रकार का व्यवहार करता है, और मनुष्य ही परमात्मा के सम्बन्ध में भी विविध प्रकार की धारणाएँ बनाता है और उनकी चर्चा करता है। प्रधानता मनुष्य की है। देखिए- बड़े-बड़े सुन्दर प्राकृतिक दृश्य संसार में बनते हैं, सुन्दर-सुन्दर फूल खिलते हैं, बहुत अच्छे-अच्छे रंग दिखाई देते हैं, पंखुड़ियों की कोमलता देखने में आती है, बड़ी सुगन्ध फैलती है। जिस प्रकृति के इस अंश में इतनी सुन्दरता, इतनी सुगन्ध, इतनी कोमलता है वह प्रकृति स्वयं उसको नहीं पहचान पाती। फूल खिला है उसको देखकर मुग्ध होने वाला मनुष्य है। फूल को स्वयं पता नहीं कि मैं कितना सुन्दर हूँ। कितना आकर्षक हूँ ! उसमें सौन्दर्य-उपासना की शक्ति नहीं है। उसकी सुन्दरता पर आकर्षित मनुष्य

होता है और मनुष्य की ही यह हृदयशीलता है कि प्रकृति-जगत् की सुन्दरता को देखकर उसे इस बात का ध्यान आता है कि जिसने इस खिलने और मुरझाने वाले फूल को इतनी सुन्दरता दी, वह स्वयं कितना सुन्दर होगा ! जिसकी रचना इतनी सुन्दर है, जिसकी कलाकृति में इतना आकर्षण है, वह स्वंय कितना अच्छा होगा ! कितना सुन्दर होगा ! इस तरह से आप देखेंगे कि सारी सृष्टि में मनुष्य का जीवन ही वह सन्धिस्थल है जिसमें ईश्वरीय विभूतियाँ इस नाशवान संसार में प्रकट होकर मानव हृदय को शीतलता देती हैं, सरसता देती है और आनन्द की वृद्धि करती हैं।

शास्त्रों की बड़ी महिमा है, उसमें ब्रह्म का रूप-निरूपण किया गया है, माया के कार्य का विवरण दिया गया है, दुःख-निवृत्ति के उपाय लिखे गए हैं, भगवद्-भक्ति के रस और आनन्द का वर्णन किया गया है। लेकिन जिन शास्त्रों में संसार का, जीवन का और परमात्मा का सत्य बताया गया है, जहाँ अन्य अनेक सरस बातें लिखी गई हैं वहाँ सरसता की चर्चा तो है, पर वहाँ रस की अनुभूति नहीं है। रस की निष्पत्ति कहाँ होती है ? जो मनुष्य शास्त्रोक्त सिद्धान्तों को अपने द्वारा ग्रहण करता है, स्वीकार करता है, आचरण में लाता है, रस की निष्पत्ति उस मनुष्य के हृदय में होती है। कागज के उन पृष्ठों में नहीं होती है। अतः सजीव, सचेत, विवेक के प्रकाश से प्रकाशित मनुष्य इस सृष्टि को अधिक से अधिक सेवा दे सकता है, सुन्दर बना सकता है और आनन्द फैला सकता है। जबकि सत्संग से वंचित विवेक का अनादर करनेवाला, बल का दुरुपयोग करनेवाला और सुख की वासना में लिप्त रहने वाला मनुष्य ही वह दोषकर्त्ता है कि जिससे सृष्टि का जो चित्र है, वह विकृत हो जाए। प्रेम की जगह पर द्वेष फैल जाए, शान्ति की जगह पर संघर्ष फैल जाए।

हम सब लोग मनुष्य हैं, मनुष्य होने के नाते कुछ विवेक का

प्रकाश समय-समय पर हमें सत्य और असत्य का विवेचन कराता रहता है। क्या सही है, क्या गलत है- इस बात का परिचय देता रहता है। तो क्या सही है, क्या गलत है, क्या ग्राह्य है, क्या त्याज्य है, क्या ज्ञातव्य है क्या प्राप्तव्य है ?- इन बातों का पता बिना किसी स्कूल, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में गए ही भाई-बहनों को होता है। अगर मनुष्य निजज्ञान के प्रकाश में देखकर विचार करे कि मेरे सामने जो दृश्य जगत् दिखाई देता है उसके साथ मुझे क्या करना है ? और जिस सृष्टिकर्ता के सम्बन्ध में सुनाई देता है- सृष्टिकर्त्ता दिखाई नहीं देता है, सुनाई देता है-उस सृष्टिकर्त्ता के साथ क्या करना है ? तो मनुष्य ही वह माध्यम है, जो कि सृष्टि के स्वरूप पर विचार भी करे और उसके साथ जैसा चाहिए वैसा व्यवहार भी करे। परमात्मा के सम्बन्ध में विचार करे कि उनका हमारे जीवन के साथ इस वर्तमान क्षण में क्या सीधा सम्बन्ध हो सकता है। ईश्वर-विश्वास का क्या प्रभाव अपने जीवन पर हो सकता है। तो आप हैं, जो देखे हुए जगत् की सेवा करके सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं; और आप ही हैं, जो अदृश्य परमात्मा के साथ अपना नित्य सम्बन्ध स्वीकार करके उनके प्रेमरस से जीवन में जन्म-जन्मान्तर के अभाव को मिटा सकते हैं। ये दोनों बातें हो सकती हैं।

अब अपने लोगों से गलती क्या होती है ? इसको भी जरा देख लीजिए। अनेक प्रकार के संकल्पों को लेकर हम पैदा हुए, अगर संकल्प रहित हो गए होते, इच्छाओं की निवृत्ति हो गई होती, शरीर धारण करके संसार के सम्पर्क से सुख भोगने की वासनाओं का अन्त कर दिया होता हमने, तो जन्म-मरण की बाध्यता मिट गई होती। हमने अब तक ऐसा नहीं किया। इसका प्रमाण यह है कि हमको शरीरधारी बनना पड़ा है, और जन्म लेकर इतनी आयु बीत जाने पर अभी भी हमारी अतृप्ति नहीं मिटी, कामनाएँ नहीं मिटीं, निस्संकल्प हम हुए नहीं, अभी भी हमारी यह दशा है।

मृत्यु-रहित जीवन हम लोग पसन्द करते हैं तो उस पसन्दगी के अनुरूप कुछ अपने को पुरुषार्थ भी करना पड़ेगा। अब सोचकर देखो, कि हमने जो जीवन बिताया इस धरती पर-सूर्य का प्रकाश और प्राणवायु लेना और धरती पर आश्रय लेना, आकाश में अवकाश लेना, प्रकृति की सम्पत्ति से शरीर का पालन-पोषण करना- इतना जो सहयोग लिया प्रकृति से, समाज से, परिवार से, माता-पिता से, यह सब लेकर हमने अपना काम पूरा किया कि नहीं किया ? जिन संकल्पों के कारण हमें जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा, उन्हीं संकल्पों को अभी तक अपने में रखा है तो मरने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि नहीं ?

महाराजजी ने मानव-जीवन का यह सत्य हमारे सामने रखा कि मृत्यु स्वयं में दुःख देने वाली अथवा भय देने वाली नहीं है। मृत्यु से भयभीत कौन होता है ? जो शरीर में आसक्त रहता है अन्यथा और सब प्रकृति के कार्य जिस प्रकार से हो रहे हैं, वैसा ही यह भी एक स्वाभाविक कार्य है प्रकृति का ! कुछ अणु-परमाणुओं के संगठन से शरीर बन गया है, प्राण शक्ति के द्वारा वह maintain किया जा रहा है, चलाया जा रहा है और अणु-परमाणुओं के विघटन से मृत्यु हो जाती है। शरीर का बन जाना, बदल जाना, बिगड़ जाना और मिट जाना- ये बिल्कुल प्राकृतिक तथ्य हैं। लेकिन हमारे लिए यदि मृत्यु बहुत ही भयावह रूप धारण करती है, तो क्यों ? इस कारण से कि हम शरीर को बनाए रखना पसन्द करते हैं।

महाराजजी ने कहा- क्योंकि हम जीना पसन्द करते हैं इसलिए मरने में भय होता है। इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह नहीं कि आप जीना पसन्द न करें, सो नहीं है ! अच्छी जिन्दगी जिएँ, जीना पसन्द करिए, अमर जीवन के आनन्द को पसन्द करिये, अविनाशी अस्तित्व में स्थित होने का पुरुषार्थ करिये। शरीर के निर्माण और विनाश को तो ऐसा ही मानना चाहिए, जैसा कि

सूर्योदय हुआ तो उठ करके हम लोगों ने सूर्य के दिए हुए प्रकाश का उपयोग करना आरम्भ किया और सन्ध्या हो जाती है, सूर्यास्त हो जाता है तो हम लोग शिकायत थोड़े ही करते हैं कि क्यों शाम हो गई। जानते ही हैं कि सूर्योदय हुआ है तो सूर्यास्त होगा ही ! जब तक प्रकाश है प्रकाश का उपयोग किया। ऐसे ही मनुष्य को जो शरीर मिला है, जब तक वो है तब तक उसका उपयोग करना चाहिए और उसके रहते-रहते अपने अविनाशी अस्तित्व में इतना आनन्दित हो जाना चाहिए कि शरीर का कब नाश हुआ इसका अपने को पता भी न चले।

महाराजजी ने अपना एक अनुभव सुनाया था हम लोगों को, कि वो बद्री-केदार सब जगह की यात्रा करके पैदल चलते-चलते नीचे आए, तो एक नगर में शरीर बहुत रोगी हो गया, करीब-करीब चालीस दिन बीत गए थे। हिल डायरिया हो गया और बहुत ज्वर रहने लगा था। जो मित्र उनकी सेवा कर रहे थे, उन्होंने चिकित्सकों को बुलाया, चिकित्सक लोग भी बहुत मित्र थे स्वामीजी महाराज के। चूंकि परमात्मा से उनका मित्रता का सम्बन्ध था, इसीलिए वह सबको मित्र ही मानते थे। शिष्य किसी को बनाया ही नहीं ! चिकित्सकों ने देखा और कहा कि नाड़ी की गति तो बहुत खराब हो रही है, लगता है कि अब शरीर रहेगा नहीं। तो साधु-सन्तों की जैसी सेवा होती है, उन लोगों ने की। जमीन को साफ कर, लीप कर, मृगछाला, कुशा इत्यादि बिछा दिया और स्वामीजी महाराज के शरीर को बिस्तर पर से उतारकर जमीन पर लिटा दिया। भजन हो रहा है, बातचीत हो रही है। महाराज ने कहा कि मेरे कान में आवाज पड़ी, एक मित्र ने कहा-''बाबाजी चले, तो मैंने सोचा कि देखें जरा कि मृत्यु कैसे होती है, जब मैं मृत्यु को देखने लगा तो मुझे बड़ा आनन्द आया।

बहुत बार ज्ञाननिष्ठ सन्तों को भी शरीर का सहयोग लेकर

संसार की सेवा के लिए उसके साथ तादात्म्य जोड़ना पड़ता है। सेवा का अवसर चले जाने पर जल्दी से जल्दी वे उससे स्वयं अलग भी हो जाते हैं, अब यह जाने वाला है तो जाए, अब इसकी जरूरत खत्म हो गई। तो महाराजजी ने कहा- मैंने देखा, कि शरीर बिल्कुल शान्त स्थिर पड़ा हुआ है और मित्र लोग चारों ओर उदास खड़े हैं और मुझे बड़ा आनन्द आ रहा था, इतना हल्कापन जीवन में और उस शरीर से असंग हो जाने पर, उसके तादात्म्य को तोड़कर अलग हो जाने पर, इतना हल्कापन, इतना आनन्द था कि मैंने कहा- महाराजजी की वाणी है, कि मरना तो बहुत बढ़िया है, लोग दुःखी काहे को होते हैं, यह तो जीवन का बड़ा आनन्ददायक तथ्य है। कुछ काल ऐसे रहा और फिर थोड़ी देर में नाड़ी की गति ठीक होने लग गई और सब ठीक-ठाक हो गया। शरीर को कुछ दिन रहना था। करीब चालीस बरस पहले की बात है। चालीस बरस बाद उन्होंने शरीर का त्याग किया। यह उन्होंने अपना अनुभव सुनाया।

मृत्युरहित जीवन, अमर जीवन हम सब लोगों को चाहिए। अब आप सोचकर देखिए, अपने ही सुख के लिए खानेवाला व्यक्ति शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर सकता। अपने ही सुख के लोभ से प्रेरित रहनेवाला व्यक्ति समाज का हित नहीं कर सकता, परिवार का हित नहीं कर सकता। जिसने शरीर को संसार की सम्पत्ति मान लिया वह धन का अर्जन करेगा तो पूरे समूह के लिए, भोजन करेगा तो शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए और जप, तप, ध्यान, व्रत, तीर्थ-यात्रा और कोई भी पुण्य कर्म शरीर की सहायता से करेगा तो सारे समाज के हित के लिए, कल्याण के लिए करेगा। ऐसा जो शरीर और संसार के अविच्छिन्न सम्बन्ध का निर्वाह करता है, वह व्यक्ति शरीर धर्म से ऊपर उठ जाता है, शरीर की आसक्ति से मुक्त हो जाता है और शरीर के नाश से पहिले अपने अविनाशी अस्तित्व का अनुभव भी पा लेता है।

हम अमर हैं, हमारा नाश नहीं होगा- यह दार्शनिक सत्य हम लोगों के जीवन में अभिव्यक्त हो सकता है। कैसे ? कि संसार का भाग जो शरीर है उसको किसी भी प्रकार से अपने काम में मत लगाओ, संसार के काम में आने दो, परिवार के काम में आने दो। उस शरीर के साथ सुख-भोग की वासना से प्रेरित होकर अत्याचार मत करो। जितना अधिक सुख-भोग में लिप्त होना पसन्द करोगे, उतनी जल्दी ही बुढ़ापा भी आएगा, मृत्यु भी आएगी और प्राण-शक्ति भी खत्म हो जाएगी। तो क्या करना चाहिए ? भाई, इस पर भी दया रखो। यह प्रकृति की सम्पत्ति है, यह संसार की वस्तु है, यह मेरे काम आने वाली नहीं है। कैसे नहीं आने वाली है ? कि अगर इसका सहारा लेकर सुख-भोग में लग जाएँ, तो इसका भी नाश हो जाएगा और हममें भी सुख-भोग की वासना इतनी बढ़ जाएगी कि हाय-हाय करते जीना, हाय-हाय करते मरना हो जाएगा। अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ-यह केवल गाने में रह जाएगा, भजन में रह जायेगा और कभी किसी काम में नहीं आएगा। इसीलिए इसको बर्बाद मत करो, सचेत होकर रहो।

दूसरी बात यह है कि आपको जो दुःख-सुख से अतीत आनन्द चाहिए, जन्म-मरण से परे अविनाशी जीवन चाहिए, संयोग-वियोग से परे नित्य योग चाहिए, उसमें तो यह शरीर किसी भी प्रकार से सहायता दे ही नहीं सकता। नाशवान शरीर भला अविनाशी जीवन की प्राप्ति में क्या सहायता देगा ? लेकिन आज कितना भ्रम हो गया साधक समाज में, कि यों आसन लगाओ, यों साधना करो, अरे भाई, कुछ भी करो, कहीं भी बैठो, उस अविनाशी जीवन में Space and time कहीं है क्या ? स्थान और काल की कोई सीमा है क्या ? अगर वह सीमा है, तो असीम से अभिन्न कैसे होगा ? सोचकर देखो।

शरीर न भोग प्रवृत्ति के लिए है, न योग की साधना के लिए। योग तो होता है अविनाशी का अविनाशी से। नित्य योग-जो संयोग

और वियोग दोनों से परे है-वह नित्य-योग जीवन में अभिव्यक्त कैसे होता है ? इस व्यक्तित्व में जो अविनाशी आपका 'मैं-पन' है, उस 'मैं' का नित्य योग होता है उस अविनाशी से। अविनाशी को अविनाशी से मिलना है, उसमें नाशवान शरीर क्या मदद करेगा ? हम सभी भाई-बहिनों को बहुत अच्छी तरह से जीवन के इस सत्य को स्वीकार करना चाहिए। स्वामीजी शरणानन्दजी महाराज का सत्य है, या सनातन धर्म का सत्य है, या आर्यसमाज का सत्य है ? यह हिन्दूइज्म है कि क्रिश्चियनिज्म है कि जैनिज्म है ? यह इज्म नहीं है। मानव जीवन का वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य है कि शरीर को अगर अपने लिए मानोगे तो नाशवान शरीर से तादात्म्य तुम्हारा नहीं टूटेगा। 'मैं अमृत पुत्र हूँ' कल्पना में तो रह सकता है, लेकिन जीवन का सत्य नहीं बनेगा। 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या'-यह सिद्धान्त आपके मस्तिष्क की खुराक बनकर रह जाएगा लेकिन उस ब्रह्म-स्वरूप से अभिन्न होकर सत्य का आनन्द आपको नहीं मिलेगा। इसीलिए क्या करना चाहिए ?

महाराजजी ने शुद्ध सत्य के आधार पर एक जीवन शैली प्रकट की। उन्होंने कहा कि देखो, शरीर त्रिकाल में भी तुम्हारा होकर रह नहीं सकता। भौतिक तत्त्वों से बना है, भौतिक विधान से बना है, उसी पर यह चल रहा है और उसी के अनुसार यह मिटेगा। तो शरीर और संसार दोनों एक जाति के हैं। इसीलिए इस शरीर के द्वारा अगर तुमको कुछ करना ही है, तो संसार के हित को दृष्टि में रखकर करो। आप कहेंगे कि इतना बृहद् संसार। इसकी मैं क्या सेवा करूँ ? तो महाराजजी कहते हैं कि भइया ! कम से कम इतना तो ध्यान रखो कि मेरे द्वारा इस संसार को कष्ट न पहुँचे। इतना तो कर सकते हो न ? बृहद् संसार है, बहुत लोग भूखे हैं, तो सब भूखे लोगों को खिला दे, वो सामर्थ्य किसी में नहीं है। बहुत लोग बीमार हैं, सब बीमारों की आप चिकित्सा करा दें, सेवा करा दें, यह आपके

बस की बात नहीं है ! तो निकटवर्ती जनसमुदाय की यथा-शक्ति क्रियात्मक सेवा करिए और इस व्रत को धारण करिये, आज से, अभी से कि-इस शरीर को लेकर हम संसार को किसी भी प्रकार से क्षति नहीं पहुँचाएँगे। अगर इतनी ही मनुष्यता हम लोगों ने अपने जीवन में जाग्रत कर ली, तो समाज से बहुत बड़ी-बड़ी बुराइयों का समूह मिट जाएगा।

सत्संग के प्रकाश में, विवेक के प्रकाश में, जीवन के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलेगा कि भाई, यह संसार मुझे जो चाहिए सो नहीं दे सकता। मुझे अमर जीवन चाहिए। नाशवान संसार आपको अमर जीवन नहीं देगा। आपको संयोग-वियोग से रहित नित्य मिलन वाला साथी चाहिए, जो कभी भी साथ न छोड़े, ऐसा साथी संसार नहीं देगा। आपको उस साथी की इतनी प्रिय संगति चाहिए कि जिसकी संगति से, जिसके साथ से जीवन का रस उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाए, कभी घटे नहीं, प्रियता में कभी क्षति न हो, ऐसी संगति संसार में कहीं नहीं मिलेगी। तो निश्चय हो गया कि जो हमें चाहिए वह संसार नहीं दे सकता।

संसार की पहुँच केवल शरीरों तक है। उसके आगे नहीं है। इसलिए यह शरीर अपने काम का नहीं है। अब अपने काम का नहीं रहा तो फिर किस काम का है ? अब तक इसके माध्यम से सुख-भोग किया था, उस भोग की वासना को मिटाने के लिए, पुराने रागों से मुक्त होने के लिए शरीर के द्वारा संसार की सेवा करो। अगर शरीर हमारे लिए कहीं उपयोगी हो सकता है, तो पीड़ितजनों के आँसू पोंछने में हो सकता है और कहीं इसका उपयोग नहीं है। फिर अब जिस परमात्मा के सम्बन्ध में हम लोगों ने सुना है उसके साथ अपने को क्या करना है।

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं, कुछ लोग अपने को बहुत वैज्ञानिक कहते हैं, rational कहते हैं, चिन्तनशील और बुद्धिशील कहते हैं। वे

लोग कहते हैं कि भाई, सुनी हुई बातों का हम विश्वास नहीं करते हैं। तो छोड़ दो, हटा दो अपने जीवन से परमात्मा को। महाराजजी कहते हैं कि भैया, तुम छोड़ दो परमात्मा को और बड़ा अच्छा होगा कि सब लोग ईश्वर को इन्कार कर दें तो बड़ा मजा आएगा मुझको, मैं और वो ही रह जाएँगे, खूब आनन्द मनाएँगे। ईश्वर अपने अस्तित्व के लिए परम स्वाधीन है। दुनियाँ के लोग उसे मानेंगे तो उसकी विशेषता बढ़ेगी और नहीं मानेंगे तो उसकी विशेषता घटेगी। ऐसा घटिया परमात्मा नहीं है। जो न मानना पसन्द करे, उसके लिए यह चर्चा नहीं है, उसके लिए कौन सी चर्चा है ? अगर आप परमात्मा को मानने के लिए तैयार नहीं है तो उसके अतिरिक्त आपके जीवन में कौनसी बात है, जिसका मानना आपके लिए सत्य प्रमाणित होगा ? अगर विचारक हैं तो विचार करिये। विचारकों ने क्या कहा ? नहीं, नहीं। मैं क्या हूँ ? मेरा अमुक नाम है तो नहीं, यह सत्य नहीं है। पहले नहीं था, बाद में नहीं रहेगा। मेरी यह जाति है- यह भी सत्य नहीं है। मैंने माना है, यह मिट जाएगा। मेरा यह स्थान है- यह भी सत्य नहीं है, पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा। तो अगर परमात्मा को मानने के लिए आप तैयार नहीं हैं तो किसी भी मान्यता को स्वीकार करने में बुद्धिमता नहीं है। तो क्या करना चाहिए ? शरीर के द्वारा संसार की सेवा करनी चाहिए और सब असत् प्रतीतियों, स्वीकृतियों को अस्वीकार कर देना चाहिए। 'नहीं' की निवृत्ति हो जाएगी; तो वो ही परमात्मा रह जाएगा, जिसको आपने मानना पसन्द नहीं किया था- वही रह जाएगा।

महाराजजी कहते हैं कि भाई, ईश्वर तो इतना जबरदस्त है कि वह मानने वालों पर भी जादू करता है, नहीं माननेवालों पर भी करता है। तो हम क्यों निहोरा करें, हम क्यों प्रार्थना करें कि तुम मानो। मत मानो। लेकिन असत् की निवृत्ति के बिना शान्ति मिलेगी नहीं और असत् की निवृत्ति तुम्हारे जीवन में से हो जाएगी तो सत्य

के रूप में वही रह जाएगा जिसको मैंने परमात्मा कहा है। 'सोऽहम्' मैं वही हूँ; वो मुझमें मिल गया, मैं उसमें मिल गया; जो जी में आए कह लेना, लेकिन है तो एक अकेला ही। भक्तजन उसको परमात्मा कहते हैं। यह वेदान्त का दर्शन हो गया।

अब आस्तिकता ले लो। सुने हुए परमात्मा के प्रति मनुष्य को क्या करना चाहिए ? रामकृष्ण मिशन के एक सन्त विदेश से घूमकर आए। उन्होंने बताया कि विदेश में, फ्रान्स में शायद, एक बहन उन्हें मिली तो कहने लगी, कि स्वामीजी ! मैं भगवान को मानना चाहती हूँ, जो स्वामीजी ने कहा कि बड़ी अच्छी बात है बहन, मान लो। उन्होंने कहा कि महाराज ! मुझसे माना नहीं जाता है। स्वामीजी ने कहा कि नहीं माना जाता है तो छोड़ दो। वह कहने लगी- महाराज मुझसे छोड़ा भी नहीं जाता है। तो मान लो तो माना नहीं जाता, छोड़ दो तो छोड़ा नहीं जाता-अब हम लोग इस वर्तमान में सोचकर देखें कि ऐसी ही दशा हम सब भाई-बहनों की नहीं है क्या ? उस ईमानदार महिला ने खुले शब्दों में अपने मन का हाल कह दिया। अब इस विषय पर थोड़ा गम्भीर होकर सोचिए। परमात्मा के सम्बन्ध में कभी हमारे जीवन में प्रश्न उठता है, जरूरत महसूस होती है तो हम लोग मान भी लेते हैं और जरूरत खत्म हो जाती है तो हम लोग भूल जाते हैं। और यों ही इसी असमंजस में, इसी दुविधा में, इसी विकल्प सहित विश्वास में-एक लम्बी-सी अवधि जीवन की निकल जाती है और हम लोग आनन्द के अगाध सागर से रिक्त रह जाते हैं, वंचित रह जाते हैं।

यह एक बहुत ही विचारणीय विषय है कि क्या मनुष्य का परमात्मा से इस जीवन में, इस वर्तमान में जो सीधा सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध की मधुरता की अभिव्यक्ति अभी हो सकती है, शरीर के नाश होने से पहले, तो क्या यह आचरणीय नहीं है, क्या यह ग्राह्य नहीं है, क्या जीवन के उस उच्चतम विकास तक पहुँचने के लिए मृत्यु से

पहले हम लोगों को तैयार नहीं होना चाहिए ? अब देखिए, कि जीवन में परमात्मा की चर्चा आती है, किए बिना तो हम रह ही नहीं सकते, तो इसका क्या कारण है ? सोचने से मुझे मालूम हुआ कि नाशवान शरीर से तादात्म्य कर लेने पर, इस दृश्यमान आकृति के साथ अपने को जोड़ लेने पर, इतने प्रकार के अभावों में हम ग्रस्त हो जाते हैं कि हमसे रहा ही नहीं जाता। जितने अभाव हमारे भीतर पैदा हुए, समर्थ माता-पिता पूरा नहीं कर सके, समर्थ पति-पत्नी एक दूसरे के अभाव को नहीं मिटा सके, समर्थ सन्तान माता-पिता के अभाव को नहीं मिटा सकी, समर्थ सरकार प्रजा के अभावों को नहीं मिटा सकी-क्या यह आपकी जानी हुई बात नहीं है ? सोचने पर मुझे ऐसा लगा कि चूँकि संसार के सम्पर्क से मेरे जीवन के अभाव नहीं मिटे और अभावों की पीड़ा सहन करना अपने को पसन्द नहीं है, इसलिए उस विश्वम्भर की कल्पना मेरे जीवन में आई। तो सन्तों ने जिसको कहा है-उसको पकड़ो। भक्तों ने जिसको कहा है, उसको पकड़ो। हमारे आपके जीवन में जो वर्तमान दशा है, वह दशा ही ऐसी बढ़िया है कि ईश्वर की ओर प्रेरित किए बिना नहीं रह सकती। इसलिए तो उसकी जरूरत पड़ गई।

अब महाराजजी कहते हैं कि वह देखा नहीं गया, केवल सुना गया है। उस सुने हुए परमात्मा के साथ हम भाई-बहनों को क्या करना चाहिए ? तो मैं पूछती हूँ कि अब तक हम क्या करते रहे ? मैं क्या करती रही सो बताती हूँ। संसार जब-जब हमारी इच्छाओं की पूर्ति में असमर्थ प्रमाणित हो गया, तब-तब हम उस समर्थ परमात्मा से अनुनय-विनय करते रहे कि- ऐसा कर दो, ऐसा कर दो, तो महाराजजी ने कहा कि गलत बात है, ऐसा नहीं करना चाहिए। अब मैं आपकी साधना पर आ रही हूँ। सुने हुए परमात्मा के साथ हम लोगों को क्या करना चाहिए ? महाराजजी ने कहा कि मैं तो ईश्वरवादी इसलिए हूँ कि मुझे जो कुछ चाहिए था, वह सब उन्होंने

बिना मेरे माँगे दे दिया। बड़ी भारी बात है। तो उनसे माँगना क्या है ? अगर धन माँगने की बात थी, तो वो तो बिना माँगे ही दे रहे हैं। आहार माँगने की बात थी, तो शरीर को पैदा करने से पहले आहार का इन्तजाम उन्होंने कर ही दिया था। तो माँगोगे क्या ? परमात्मा इसलिए नहीं है, इस जीवन में, कि उससे नाशवान संसार, माँगो। परमात्मा की धारणा, परमात्मा की चर्चा मानव जीवन में किसलिए है ? कि संसार जो कुछ दे नहीं सकता, वह सब उनसे ले लो। अमर जीवन संसार नहीं दे सकता, तो परमात्मा से अभिन्न होकर अमर हो जाओ। सदा-सदा का साथी संसार नहीं हो सकता, तो परमात्मा से मित्रता करके सदा-सदा के लिए सनाथ हो जाओ। कभी न मिटने वाला प्रीति का रस संसार नहीं दे सकता, तो सदा-सदा के लिए प्रीति-रस में सराबोर करने वाले परमात्मा को मान लो। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा ही माने जाने के योग्य है। और किसलिए मानने के योग्य है, कि हम उससे अभिन्न होकर ज्ञान-स्वरूप हो जाएँ, प्रेम-स्वरूप हो जाएँ, जन्म-मरण की बेबसी मिट जाए, नीरसता मिट जाए। और आप सच पूछिए, कि परमात्मा ने मनुष्य की रचना ही इसलिए की कि उनको प्रेम के आदान-प्रदान के लायक दूसरा कोई प्राणी मिला नहीं संसार में।

एक बार किसी ने महाराजजी से पूछा कि स्वामीजी, भगवान ने संसार को क्यों बनाया ? पहले तो उसको डाँट दिया कि भगवान ने बनाया, तुमको कैसे मालूम है ? कैसे कह सकते हो कि भगवान ने बनाया, उन्होंने कहा है तुमसे ? पहले तो उसकी इस धारणा को उड़ा दिया, फिर कहा कि भैया, प्रभु ने संसार बनाया मेरे लिए, और मुझको बनाया अपने लिए। क्यों ? क्योंकि परमात्मा परम प्रेम का भण्डार है। यह मनुष्य के सिवाय और कौन कहेगा ? पेड़-पौधे कहेंगे ? गाय, बैल, घोड़े, बिल्ली, कुत्ते कहेंगे ? नहीं कहेंगे। तो मनुष्य के सिवाय उस अनन्त परमात्मा पर अपने को न्योछावर करने

वाला दूसरा कोई सृष्टि में है नहीं। तो महाराज ने कहा कि उन्होंने मुझको बनाया अपने लिए। अर्थात् परमात्मा की चर्चा जब जीवन में आती है तो हम भाई-बहनों को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि हम भिखारी होकर उसके सामने झोली फैलाएँ। हम लोगों को उन्होंने माँगने के लिए नहीं बनाया। बड़ा स्वतन्त्र बनाया, बड़ा समर्थ बनाया, इसलिए शरीर के साथ जो कुछ लगा हुआ है सब संसार की सेवा में दे दो। और अपने में तुम्हारा जितना प्रेम का भाव है, वह सब परमात्मा को दे दो। और स्वयं सबसे स्वाधीन रहो, किसी के अधीन न रहो। न दिखाई देने वाले दृश्य जगत् से कुछ माँगो और न अदृश्य परमात्मा से कुछ माँगो। आज के बड़े कर्मठ, ईश्वर-विश्वासी महापुरुष महात्मा गांधी ने लिखा है, कि 'सत्य को स्वीकार करना, ईश्वर में विश्वास करना बुजदिलों का काम नहीं है, वीर लोगों का काम है।' ऐसी वीरता हम सब भाई-बहन कर सकते हैं। कौन-सी ? कि दिखाई देनेवाले सुहावने-लुभावने संसार को इन्कार कर देना कि नहीं, नहीं, मुझे यह नाशवान सुख नहीं चाहिए-और बिना देखे, बिना जाने परमात्मा पर-एक वाक्य मैंने अपनी ओर से जोड़ लिया-बिना किसी शर्त के अपने को न्यौछावर कर देना ! उनसे कोई शर्त भी नहीं करेंगे कि हम तुम्हारी शरण में आएँ तो हमें मुक्ति दे देना और हमने अपने को तुम्हारे समर्पित किया है, हमको भक्त शिरोमणि बना देना-यह माँग भी नहीं करनी है परमात्मा से ! माँगे क्यों ? जो माँगने के लिए हाजिर होगा वह प्रेमियों की श्रेणी में समा नहीं सकेगा और परमात्मा ने आपको बनाया है प्रेम के आदान-प्रदान के लिए।

महाराज कहते कि एकबार, केवल एकबार तृषित हृदय की तृष्णा से पीड़ित होकर और प्रेम की प्यास से प्रेरित होकर उस अनन्त परमात्मा, परम प्रेमास्पद, परम प्रेमसिन्धु, को कह दो कि, 'हे प्रभु ! मैं तेरा' अथवा ऐसा कह दो कि 'हे प्रभु ! तू मेरा।' तो मानव-

हृदय के इस आत्मीय भाव पर मुग्ध होकर, आनन्दित होकर वह अनन्त ऐश्वर्यवान अपने ब्रह्म होने के ऐश्वर्य को भुला देता है और आपके हृदय के भाव का आदर करने के लिए छोटा-सा, नन्हा-सा, दो हाथ, दो पाँव का बनकर आपके इशारे पर नृत्य करता है, गाता है, ताली बजाता है। रसखान ने लिखा है न 'ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भर छाछ पे नाच नचावें' उसको बड़ा पसन्द आता है।

मनुष्य हृदय खोलकर एकबार कह दे, 'हे प्रभु ! तू मेरा'-ऐसा कहने में भी कोई संकोच नहीं है, अब मैं ऐसा कहती हूँ। प्रारम्भ में जब मुझे सन्त से सलाह मिली कि दोनों में से जो भी तुम्हें पसन्द आए कह दो तो मुझसे यह नहीं कहा गया कि 'तू मेरा'। कहने का साहस नहीं हुआ, डर लगा। कौन बल से मैं कहूँ ? अपने जीवन की दुर्बलता, अपने भीतर का अन्धकार और जन्म-जन्मान्तर की कामनाओं से तृषित हृदय का सूखापन, जहाँ रस की एक बूँद का पता नहीं चलता था, तो मैंने कहा कि कौन बल पर मैं कहूँ कि 'तू मेरा।' मेरे भीतर से यह प्रेरणा मिली कि असमर्थ व्यक्ति उस प्रेम-स्वरूप को प्रेम प्रदान करने का साहस कैसे करें ? तो यह तो नहीं कह सकी कि 'तू मेरा', लेकिन यह कहने में थोड़ा साहस मिल गया कि 'मैं तेरी'। अरे भाई, असमर्थ तो सामर्थ्यवान की शरण ले सकता है न ? तो मैं क्या बताऊँ, इस जीवन का ऐसा ठोस सत्य है कि चाहे अपने को कह दो कि, 'मैं तेरा हूँ' और चाहे उनको कह दो कि 'तू मेरा है', भक्तिमती मीराजी की तरह। इतना शुद्ध हृदय था, इतनी कोमलता थी ! जगत् की जड़ता से मुक्त वह जीवन था तो उन्होंने कह दिया 'मेरो तो गिरधर गोपाल'। 'तू मेरा है'-ऐसा कहने का साहस उनको हुआ।

विविध प्रकार की विकृतियों से भरा हुआ व्यक्तित्व, अपनी ही भूल के परिणाम से पीड़ित जीवन। अपने ही को सँभाल नहीं पाते

हैं तो कहाँ तक उनको कहेंगे कि 'तू मेरा'। मैंने कहा, अच्छी बात है, विकृत जीवन है तो क्या ? और तृषित हृदय है तो क्या ? उसकी शरण में जाकर यह पूर्ण हो सकता है। तो मैंने अपने लिए यह निश्चय किया कि हम तो यही रखेंगे। अगर इस प्रकार का भाव मनुष्य अपनी ओर से उस अनन्त परमात्मा को अर्पित करता है तो उसके उसी साधन काल में-मैं सिद्ध जीवन की चर्चा नहीं करती हूँ,- उसी साधन काल में उसके भीतर ईश्वरत्व अभिव्यक्त होता है और परमात्मा के सम्बन्ध के सारे सन्देह पलभर में खत्म हो जाते हैं।

(78)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव सेवा संघ की प्रणाली में एक विशेष बात हमें सुनने को मिलती है। वह यह है कि साधन, भजन, ध्यान किया नहीं जाता, होता है। प्रत्येक भाषा में हम लोग क्या सुनते हैं कि साधन करो, भजन करो, ध्यान करो। लेकिन मानव सेवा संघ की प्रणाली में, जो कि मानव जीवन की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता और आस्तिकता पर आधारित है, यह नहीं कहा जाता कि साधन करो, भजन करो, ध्यान करो। उसमें कहा जाता है कि जीवन पर विचार करो, आत्मनिरीक्षण करो, सत्-असत् का विवेचन करो, यानि करने वाली बात। अपनी जानी हुई भूल को करो मत, की हुई भूल को दोहराओ मत, अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करो, जिस सत्य की हम चर्चा करते हैं, जिस सत्य को अपने द्वारा अपने लिए सम्भव मानते हैं, उस सत्य को स्वीकार करो-तो करने में ये सब बातें आ गईं और साधक, भजन, ध्यान-यह सब होने में आ गया।

साधन का अर्थ क्या है ? एक बड़ा व्यापक अर्थ सुनेंगे आप मानव सेवा संघ की भाषा में। साधन का अर्थ है- बुराई रहित होना।

आप साधक है इसकी पहचान क्या है ? इसकी पहचान यह है कि आप अपने को बुराई रहित बनाने में लगे हुए हैं। आप साधन भजन करते हैं तो करने वाला भजन जो होगा वह थोड़ी देर का होगा, क्योंकि क्रिया जो है, उसका आरम्भ होता है और उसका अन्त भी होता है। यह तो सर्वमान्य बात है, किसी मत या सम्प्रदाय की बात नहीं है। जिस क्रिया का आरम्भ होगा उसका अन्त जरूर होगा। और हमारा भजन कैसा होना चाहिए ? सन्तों ने, भक्तों ने क्या कहा ? भगवत्-वाणी में क्या कहलवाया ?-'भजहिं निरन्तर मोहि।' भगवान कृष्ण, भगवान राम जिन्होंने अवतारी भेष में हम लोगों का पथ-प्रदर्शन किया, उन्होंने कहा कि निरन्तर भजो। यह करने वाला भजन आप करियेगा तो वह निरन्तर होगा कि उसका अन्त हो जाएगा ? अन्त हो जाएगा न ? तो जिस भजन का आरम्भ होगा, जिस भजन का अन्त होगा, वह भजन अखण्ड नहीं होगा। वह भजन बुरा है- ऐसा नहीं कह रही हूँ मैं; वह नहीं करना चाहिए-यह भी नहीं कह रही हूँ। मैं तो भजन करने वाले साधक की आवश्यकता बता रही हूँ। हम लोगों की आवश्यकता कैसी है ?-कि जीवन में अखण्ड भजन रहे। कौन-सा भजन अखण्ड रह सकता है ? मानव सेवा संघ कहेगा कि करने वाला भजन तो अखण्ड नहीं होगा, अगर साधक के जीवन में सत्संग के फलस्वरूप भजन अपने आप से होने लगे तो वह अखण्ड भजन होगा।

ऐसा कौन-सा भजन है कि जो अपने आप होगा, अपने आप होने लगेगा ? इसके उत्तर मे सन्त की सलाह यह है कि देखो भाई, भक्त भजन करता है भगवान की प्रसन्नता के लिए। भगवान की प्रसन्नता जिसको अभीष्ट है, वह क्या करेगा ? सबसे पहली बात जो उसे करनी होगी-वह है प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव रखना और सृष्टि के मालिक भगवान को प्रसन्न करना। सृष्टि के किसी भी प्राणी के प्रति वैर-भाव है उसके जीवन में, किसी भी प्राणी को कष्ट

पहुँचे और उसका ध्यान न जाए- दूसरे को दुःख देकर अपनी सुविधा करने वाला भक्त कैसे हो सकता है ? कैसे उसके द्वारा भजन होगा कि परमात्मा प्रसन्न होंगे। अतः प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव निरन्तर होने वाले भजन का एक स्रोत हुआ।

आप दुनियावी सम्बन्धों को देख लीजिए। किसी भी नाते से एकबार जिसको आपने अपना कहकर मान लिया, उसकी याद आती है कि करनी पड़ती है ? आती है न ? आप वृन्दावन आते हैं तो वृन्दावन के आस-पास मथुरा में, आगरा में, इधर-उधर किसी जगह पर दुनियाँ की दृष्टि से माना हुआ कोई भी सम्बन्धी हो, तो इधर आने का विचार मन में आते ही उस सम्बन्धी की याद आ जाती है या विधि-विधान से बैठ कर करनी पड़ती है ? आ जाती है न ? मिलने जाने का संकल्प अपने आप उठ जाता है न ? आप उस संकल्प की पूर्ति कर सकें अथवा न कर सकें, लेकिन निकट में रहने वाला कोई भी आपका माना हुआ सम्बन्धी हो तो उसकी याद आए बिना नहीं रह सकती। यह क्या है ? याद आ गया कि विधि-विधान से आसन-मुद्रा साध करके याद करना पड़ा ? अपने आप आ गया।

सन्तजन, भक्तजन सलाह देते हैं कि माने हुए सम्बन्ध मिथ्या हैं। मान लीजिए कि किसी को आपने अपना समधी मान लिया, लड़के-लड़की की शादी जब तक नहीं किए थे तो वह समधी था क्या ? नहीं था। उसका या आपका शरीर नहीं रहा तो वह समधी रहा क्या ? नहीं रहा। पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा तो मध्य में जो होने के समान भासित होता है, ज्ञानीजन उसको भी 'नहीं' करके मानते हैं, 'नहीं' करके जानते हैं। ऐसा मिथ्या सम्बन्ध यदि आप में स्वतः ही उसकी स्मृति को जगा देता है, तो जो नित्य सम्बन्धी है, जो मेरे भूल जाने पर भी मुझको नहीं भूलता है, जो मातृगर्भ में उल्टे टँगे हुए थे तब भी साथ था और जब यह साढ़े तीन हाथ का शरीर चिता पर जलता हुआ होगा तब भी वह साथ

होगा-ऐसा जो नित्य सम्बन्धी है, उसे हम अपना सम्बन्धी कहकर स्वीकार करेंगे, तो उसकी याद आएगी कि ढोल-मंजीरा बजा करके याद करना पड़ेगा ? याद आएगी।

जो अपने आप भगवत् स्मृति जगा दें, वह तो सत्संग हुआ और स्मृति का जग जाना-उसका नाम भजन हुआ। मानव सेवा संघ ऐसा भजन का अर्थ बताता है। जो भगवान को न माने, उनको कुछ नहीं कहता; न माने लो बड़ी अच्छी बात है। अगर विश्वास करना पसन्द नहीं है, तो मत करो विश्वास, लेकिन विश्वास करते ही हो, उनको रिझाना तुम्हारे जीवन का एक अनिवार्य व्रत बन गया है तो सच्चा भजन करो। ऐसा भजन क्या करना कि शुरू करने के थोड़ी देर बाद थकान आने लगी, कुछ देर के बाद जम्भाइयाँ आने लगीं, कुछ देर के बाद गला बैठ गया, कुछ देर के बाद भूख-प्यास लग गई तो भजन खण्डित हो गया।

मैंने महात्मा गांधी के अत्यन्त निकट रहने वाले एक साधक से सुना कि एकबार प्रार्थना की सभा में सब लोग बैठे थे, प्रार्थना हो रही थी, आँख बन्द करके सब लोग भगवान का ध्यान कर रहे थे चुपचाप, कि जंगल में से एक सर्प निकला और बापू की गोदी में से होते हुए चला गया। प्रार्थना सभा में बैठे हुए किसी-किसी की नजर पड़ी और लोग घबड़ाने लगे। कोई उठकर खड़ा हो गया, कोई खुस-पुस करने लगा। इतनी तो किसी की हिम्मत नहीं हुई कि बापू को पकड़ कर हिला दे, जगा दे या चिल्ला दे। लोग आपस में खुस-पुस करके रह गए। प्रार्थना की सभा जब पूरी हो गई तो उत्सुकता के मारे, कौतुहल के मारे लोगों से रहा नहीं गया। दो-चार लोग उनसे कहने लगे कि अरे बापू ! प्रार्थना के समय एक सर्प आपकी गोदी में से होकर निकल गया। बापू को तो पता नहीं चला था, वे शान्त रहे। उन्होंने पूछा कि, 'अच्छा, ऐसा हुआ ?' तो यह बताओ कि प्रार्थना की घड़ी में सर्प को इधर से आते हुए, इधर से निकलते

हुए देखा किसने ? यह प्रार्थना कैसी की तुमको अपने प्रार्थ्य से भिन्न का भी आभास हो रहा है ? बात समझ में आ रही है ? यह कैसी आराधना कि तुम्हारे हृदय का तार, तुम्हारा तन-मन, रोम-रोम जिसकी आराधना कर रहे हो, उस आराध्य में खो नहीं गया है ? यह कैसी प्रार्थना ? यह कैसा भजन कि तुमको बाहरी दृश्य का भास हो रहा है, भय और चिन्ता हो रही है, कौतुहल हो रहा है ?

देखिए, मैं भी आप ही के समान बहुत ही सामान्य स्तर से साधक का जीवन आरम्भ करने वालों में से एक हूँ और मैं अपनी दुर्बलताओं को, विश्वास के अधूरेपन को, भजन की निर्जीवता को बहुत अच्छी तरह से जानती हूँ। सन्त के पास बैठकर साधन, भजन, ध्यान का अर्थ जो, जितना मेरी पकड़ में आया-जितना उन्होंने कहा, मैंने सब समझ लिया, ऐसा तो नहीं कह सकती-तो जितना समझ में आया, उसके आधार पर मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि हम सब लोग साधन, भजन, ध्यान करते ही हैं, तो जितना कर रहे हैं उसे छोड़ें नहीं, जैसा कर रहे हैं, उसे बुरा न समझें, लेकिन हर भाई-बहन अपनी-अपनी दृष्टि से अपने साधन, भजन, ध्यान की ओर देखें। एकान्त में बैठ कर उस पर विचार करें और उसमें अधिक से अधिक सजीवता कैसे लाई जा सकती है- इसका उपाय करते चलें तो विकास हो जाएगा, ऐसा मानव सेवा संघ का कहना है।

एक मुसलमान सन्त राबिया के जीवन को पढ़ा है मैंने। चौका-बर्तन करने का काम करती थी। भगवान को मालिक मानती थी। मालिक के घर में झाड़ू, चौका, बर्तन, रसोई का काम पूरा हो जाए, सफाई-धुलाई हो जाए, फिर एकान्त में अकेले बैठे तो ईश्वर की आराधना में अपने को भूल जाए। महात्मा गांधी के जीवन का उदाहरण दिया, प्रार्थना के समय वे अपने को, शरीर को, संसार को भूल जाते थे। आराध्य से भिन्न किसी और का आभास उन्हें नहीं रहता था। ऐसे अनेकों सन्त भक्तों के जीवन की कथाएँ हम लोग

पढ़ते हैं, सुनते हैं, अच्छा लगता है हमें। इसके आधार पर और अपनी आवश्यकता को सामने रख कर मैं यही समझती हूँ कि हम सब भाई-बहनों में से यदि कोई ईश्वर-विश्वासी है-मेरा ऐसा अनुमान है कि हम लोगों में से निन्यानवे प्रतिशत ईश्वर में विश्वास करने वाले ही यहाँ बैठे हैं, निवृत्ति-परायण और ज्ञान की अग्नि में सब विकारों को भस्म करने वाला बिरला ही बहादुर यहाँ कोई होगा, हम सब लोग अपनी दुर्बलताओं में अपने को समेटे हुए किसी तरह प्रभु की महिमा के बल पर अपने को पार करना चाहते हैं, तो ईश्वर-विश्वासी हैं हम लोग। ईश्वर-विश्वासी भाई-बहनों से, आत्मीयजनों से, यह नम्र निवेदन है मेरा, कि जीवन के सत्य को पकड़ने की चेष्टा करें।

सन्तजन सलाह देते हैं, कि जिसको हम अपना मानते हैं उसका ध्यान अपने आप बारम्बार आता रहता है। परसों एक भाई यहाँ से पुरलिया गए तो मैंने पूछा कि भाई, जल्दी क्यों जा रहे हो ? उन्होंने कहा कि माताजी को बीमार छोड़ कर आया था और उनका खाना-पीना छूट गया था। यहाँ बैठा रहता हूँ तो रह-रह कर भीतर से मन उचाट हो जाता है। तो क्या मतलब है, कि जिसको हमने अपना सम्बन्धी करके स्वीकार किया उसकी याद आती है, और चूँकि संसार का सम्बन्ध मिथ्या है, इसलिए मिथ्या सम्बन्ध मानने पर जिसको मैंने सम्बन्धी माना उसकी याद आने पर जी उचट गया। कितना सत्य है ?

देखिए, यहाँ न मैं सगुण स्वरूप की चर्चा कर रही हूँ, न निर्गुण स्वरूप की; न शैव की न वैष्णव की; न राम की उपासना, न कृष्ण की; न खुदा की उपासना, न गॉड की प्रार्थना, यह मैं भेदभाव की बात नहीं कर रही हूँ। मैं बिल्कुल सर्वव्यापी चर्चा, जो मानव सेवा संघ ने मानव-मात्र के हित के लिए स्वीकार की है, आपके सामने रख रही हूँ। संसार के व्यक्ति के साथ माना हुआ सम्बन्ध मिथ्या है,

इसलिए उस मिथ्या सम्बन्ध का परिणाम यह है कि उसकी याद आई तो जी उचट गया, अभाव सता गया, दूरी मालूम होने लगी। वहाँ पुरलिया में माँ पड़ी हुई हैं, मैं यहाँ बैठा हूँ; अगर उसका देहान्त हो गया तो बड़ा पछतावाा होगा, तो जी उचट गया और जल्दी से वहाँ पहुँचने का संकल्प पैदा हो गया। काल-स्थान की दूरी का भास हो गया और याद आने से जी में उचाट भर गया। ठीक इसके विपरीत भक्त-जन का यह अपना अनुभव है, कि जो मेरा नित्य सम्बन्धी है, और जो नित्य-निरन्तर मुझ में विद्यमान है, उसकी याद आती है तो उससे जी में उचाट नहीं आएगा। वह तो बड़ा रसरूप है, अनन्त माधुर्यवान है, अत्यन्त निकट है। उसकी याद जब आती है तो भीतर का जो उचाट है, वह खत्म होने लगता है; भीतर की जो नीरसता है, वह मिटने लगती है। वह स्वयं रसरूप है, इसलिए उसके रस से जीवन में एक क्षण की तो कौन कहे, जन्म-जन्मान्तर की नीरसता का नाश होने लगता है। अपने आप हृदय प्रेम से उमड़ने लगता है। अपने आप भीतर का सूनापन भरने लगता है, और जिसको मैंने अपने से दूर माना था, कहीं छिपा हुआ, कहीं बड़ा रहस्यमय, उसके लिए सन्त ने सलाह दी कि देखो भाई ! तुम जानती नहीं हो उसको, तुमने देखा नहीं है उसको, लेकिन वह है तुम्हारे अत्यन्त निकट ! केवल अपनी विस्मृति से तुमने अपने उस नित्य सम्बन्धी को भुला दिया था, इसलिए वह अत्यन्त रहस्यमय हो गया है। तुम अपने उस नित्य सम्बन्धी को याद करोगी तो तुम जहाँ हो वहीं पर, जैसे हो वैसे ही, उसी काल में, उसी स्थान में चूँकि वह स्वयंप्रकाश है, चूँकि वह घट-घट वासी है, चूँकि वह अन्तर्यामी है, चूँकि वह तुम्हारा अत्यन्त प्रेमी है, इसलिए तुमको उसकी स्मृति आई नहीं कि उसकी विद्यमानता से तुम्हारा हृदय भर जाएगा। कितना अन्तर है। मिथ्या की याद आ गई तो उचाट भर गया। सत्य की याद आ गई तो जन्म-जन्मान्तर का उचाट नष्ट हो गया, रस से जीवन भर गया। कितना अन्तर है।

प्रभु की स्मृति के लिए, आप देखिए, कि तीर्थ में जाना जरूरी है या गंगा तट पर बैठना जरूरी है, हिमालय की गुफ़ा में बैठना जरूरी है, या मन्दिर को बदल कर मस्जिद बनवाना जरूरी है, मस्जिद को बदल कर गिरिजाघर बनवाना जरूरी है ?..........अब उस स्वीकृति के लिए आप में जितनी सामर्थ्य है उतनी लगाइए। यदि असमर्थ हैं, चल-फिर नहीं सकते, मुँह-से बोल नहीं सकते, सन्त-महापुरुष के पास पहुँच नहीं सकते, संस्कृत के श्लोक का उच्चारण नहीं कर सकते, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। बे पढ़े-लिखे हैं या निम्न वर्ग में जन्मे हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं। एक क्षण पहले तक अनेकों अपराधों के अपराधी बन चुके है, तो भी कोई बात नहीं। अनित्य स्वीकृति को अस्वीकार करके, उस नित्य सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लेने में किसी प्रकार की कोई पराधीनता नहीं है।

महर्षि वाल्मीकि ने क्या किया था ? हम लोगों ने ऐसा सुना है कि इतने ब्राह्मणों की हत्या करते थे कि एक दिन में सुबह से लेकर सन्ध्या तक नौ मन जनेऊ इकट्ठा हो जाता था- नौ मन जनेऊ ! एक दिन कोई विलक्षण विप्र आ गया। उसने कहा कि भाई, यह जो दुष्कर्म तुम कर रहे हो, परिवार का भरण-पोषण करने के लिए, उसके लिए जाकर परिवार के लोगों से पूछो तो कि इसका जो फल मिलेगा तुमको, इसमें वे लोग तुम्हारे साथी होंगे ? स्त्री-बच्चों से पूछा। उन्होंने कहा कि हमने थोड़े कहा था तुमको पाप करने के लिए ! हमें तो खाने से मतलब। तुम जैसे भी लाकर देते हो, हम खाते हैं। हम क्या जानें ? हम तुम्हारे साथ नहीं हैं। तो एक सैकिण्ड की बात थी न ! सुना उन्होंने। कहा कि अच्छा, कोई मेरे साथ नहीं होगा तो ठीक है, आज से यह कर्म छोड़ा। तो उनको कुछ समय बिताना पड़ा ? स्थान बदलना पड़ा या बाहर से भेष बदलना पड़ा, या जितने दिन तक उन्होंने दुष्कर्म किए थे उतने दिन तक कोई

शुभ कर्म का अनुष्ठान करना पड़ा ? सो सब कुछ नहीं। उनको सूझ गया कि मेरा कोई साथ नहीं देगा, तो आज से इसको छोड़ो। एक सैकिण्ड में उनके अहं में परिवर्तन आ गया।

बहुत से लोग संस्कार का नाम लेते हैं। अब देखिए, भगवान की कैसी लीला है। उन्होंने हम लोगों को संस्कार का चमत्कार भी दिखला दिया। गोस्वामीजी ने कहा है 'मरा-मरा जपत मुनीश पारब्रह्म भये, राम-राम जपत न जाने कौन.........' ऐसा कुछ लिखा है। संस्कार की बात हो गई। मारो-मारो करते-करते मारो-मारो कहने की आदत हो गई। उस विप्र ने सलाह दी कि भैया, राम-राम जपो, यह कर्म छोड़ो। तो राम-राम कहा नहीं जाता था, मरा-मरा कहते थे। लेकिन हृदय में राम था, मुख से अभ्यासवश राम नहीं कहा जाता था, तो मुख से निकलता था मरा-मरा और हृदय में रहता था राम। उल्टा नाम जपते-जपते मुनीश पारब्रह्म हो गए, मुनीश्वर हो गए। क्या हो गया ? अहं में परिवर्तन हो गया-अब तक मैंने अनेक प्रकार की भूल की थी, आज मुझे मालूम हो गया कि यह मेरी भूल थी, तो अब नहीं करूँगा। हो गया परिवर्तन !

आपका, मेरा जो यह अहं रूपी अणु है, यह ऐसी विचित्र चीज भगवान ने बनाई है कि इसको संसार के साथ मिला दो तो मिलकर मिट्टी हो जाए, और कितने ही दिनों का किया हुआ अपराध-दोष क्यों न हो, वर्तमान में भगवान की शरणागति ले लो, तो तत्काल वे साधु के समान बना देते हैं। भगवान की वाणी है न 'करौं सद्य तेहि साधु समाना।' सद्य, तुरन्त ही, तत्काल ही, देर नहीं लगती है ! ऐसी अद्भुत रचना हमारी आपकी है। अभी, इसी वर्तमान में, इस कलिकाल में इतना सुन्दर अवसर पाकर भी, की हुई भूलों को छोड़ने का साहस हम न करें, और नित्य-निरन्तर जो हममें विद्यमान है; हमारी प्रत्येक गतिविधि को जो सँभाल रहा है; जीवन की प्रत्येक घटना से हमें सजगता दे रहा है, और हर समय हमें अपनाने के

लिए तैयार है, उससे मिलने का साहस न करें, तो यह अवसर निकल जाएगा हाथ से, बाद में पता नहीं फिर कब क्या होगा। तो मनुष्य-जीवन बड़ा मूल्यवान है, उसके हृदय का प्रेम तत्त्व सारी सृष्टि से अधिक मूल्यवान है और सृष्टिकर्त्ता उसकी प्रतीक्षा में है। हम सब लोग अपनी सब दुर्बलताओं को लिए हुए, अपनी त्रुटियों के साथ ही अपनी असमर्थता की पीड़ा से पीड़ित होकर, उस महामहिम की महिमा में विश्वास करके उसके प्रेमी होना पसन्द करें, उसके सम्बन्ध को स्वीकार करें और अपने आप जब बारम्बार याद आने लग जाएगी तो जीवन में इतना चमत्कारपूर्ण परिवर्तन होगा कि जिसकी कल्पना और अनुमान नहीं किया जा सकता। याद आने लग जाए, तब हम जानें कि भजन हो रहा है। जब तक याद करना पड़ रहा है तब तक बुराई नहीं है याद करने में, लेकिन हम लोगों को ऐसा समझना चाहिए कि यह तो भजन का एक प्रकार का रिहर्सल (Rehearsal) है, ट्रेनिंग (Training) हो रही है।

भगवान के भजन में आज हम क्रियात्मक रूप से लगे हैं और हमारी चेष्टा हो कि क्रिया गौण हो जाए, भाव प्रधान हो जाए। भावात्मक भजन कब आरम्भ होगा ? जब हम सत्यता के साथ उस नित्य सम्बन्धी से सम्बन्ध को स्वीकार करलें। तो दुःख में, सुख में, प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक दृश्य में, जीवन की प्रत्येक घटना के द्वारा, प्रत्येक कार्य के द्वारा बस उसी में रम जाएँ, तब नित्य भजन होगा। तब नित्य ध्यान होगा। और जो ध्यान और भजन अपने आप होने लगता है, वह कभी खण्डित नहीं होता।

(79)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

अनित्य जीवन में आकृति से भाव की उत्पत्ति होती हैं और दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति होती है।

बहुत ही बढ़िया प्रसंग है। इसमें यह रहस्य है कि जब हम लोग शरीरों के साथ तादात्म्य जोड़कर रहते हैं-अर्थात् मैं और यह शरीर एक है, शरीर है तो मैं हूँ, शरीर है तो मैं बोल रही हूँ, शरीर है तो मैं जी रही हूँ, इस प्रकार शरीरों के साथ अपने को मिला कर जब हम लोग रहते हैं, तो अन्य आकृतियों को देखकर भाव पैदा होता है, यथा-यह मेरे पिता हैं, यह मेरी माता है, ये मेरे मित्र हैं। तो जिस आकृति को हमने माता-पिता माना, उस आकृति को देखकर अपने भीतर आदर का भाव पैदा हुआ। जिस आकृति को पुत्र माना, उसको देखकर हृदय में वात्सल्य भाव आया। जिस आकृति को दुश्मन माना, उसको देखकर भीतर आक्रोश पैदा हो गया। जिस आकृति को खतरनाक माना, उसको देखकर भीतर में भय पैदा हो गया। इस प्रकार अनित्य जीवन में आकृति से भाव की उत्पति होती है। आकृति के अनुरूप भाव बन जाते है।

दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति होती है। जो दिव्य-जीवन है, जिसमें लौकिकता का लेश नहीं है, उसमें भौतिक तत्त्व का प्रवेश नहीं है ! ऐसा जो दिव्य-जीवन है उसमें भाव से आकृति बनती है। ज्ञान-पन्थ के साधक और प्रेम-पंथ के साधक, जो कि देहभाव से असंग हो चुके हैं, देहभाव जिनका छूट गया है, उनका दिव्य-जीवन से सम्बन्ध हो गया है। उस दिव्य-जीवन में भाव से आकृति पैदा हो जाती है। जिस भक्त का जैसा भाव होता है उस भाव के अनुरूप भगवान की आकृति बन जाती है। वृन्दावन में एक

सन्त रहते थे। अब तो बहुत दिनों से उनको देखा नहीं है। पागल बाबा कहलाते हैं यह। पहले कलकत्ता में वे जज थे। उनकी कथा ऐसी है कि उनकी कचहरी में एक मुकद्दमा आया। मुकद्दमा एक भगवत्-विश्वासी गृहस्थ पर था। वे गृहस्थ बड़े भगवत् अनुरागी थे, सज्जन-व्यक्ति थे, भगतजी कहलाते थे। उन्होंने किसी महाजन से कभी रुपये कर्ज लिए होंगे और समय पर यह कर्ज उन्होंने चुका दिया, उनको रसीद भी मिल गई। इस बीच में उस सेठ के मन में बेईमानी आ गई। उसने कहा कि भगतजी, मुझको एक गिलास पानी पिला दीजिए। भगतजी जब पानी लेने गए, सेठ ने अपनी दी हुई रसीद चुरा ली। भगतजी बेचारे ने जल पिलाया और चले आए। रसीद की उनको याद भी नहीं रही। सेठ ने वह रसीद छिपा ली और कुछ समय जब बीता तो भगतजी पर उसने मुकद्दमा कर दिया कि तुम्हारे पास इतना रुपया मेरा बाकी है। भगतजी ने कहा कि सेठजी रुपया तो हम दे आए थे। सेठजी माने नहीं। उन्होंने कहा कि रुपये तुम दे गए थे, तो रसीद लाओ। रसीद उनके पास थी ही नहीं, उसकी उन्हें याद ही नहीं थी और कोई सबूत उनेक पास था ही नहीं कि रुपया दे दिया है। मुकद्दमा चलने लगा, पेशी हुई। इसी मामले में जब जज साहिब को फैसला देना था तो उन्होंने भगतजी से पूछा कि भाई, मैं फैसला देने जा रहा हूँ, जो तुम कह रहे हो कि तुमने रुपये दे दिए हैं तो तुम्हारा कोई गवाह भी है ? किसी को मालूम है जो कह सके कि हाँ, तुमने रुपया दे दिया है ? तो उन्होंने कहा, हाँ, मेरा गवाह तो है। तो एक तारीख दे दी गई कि उस दिन तुम अपने गवाह को बुला लेना। उन्होंने नाम लिखा दिया 'रघुनाथजी' और पता लिखवा दिया 'कनक भवन, अयोध्या।' निश्चित तारीख पर जब इनका नम्बर आया तो कोर्ट में उनके गवाह को बुलाया गया। भगतजी बेचारे चुपचाप बैठे थे, उनको तो कोई बात ही नहीं सोचनी थी। दूर से एक आदमी पगड़ी बाँधे, मामूली कपड़े पहने हाथ उठा करके पुकारता हुआ आ गया भीड़ में से- जी हाँ, मैं

हाजिर हूँ। उनसे पूछा गया कि इन भगतजी का ऐसा-ऐसा केस है, इन्होंने आपको गवाह बनाया है, आप जानते हैं कि इन्होंने रुपये दे दिये थे ? "हाँ, मैं जानता हूँ।" "सबूत दे सकते हैं ?" "हाँ दे सकता हूँ।" "क्या सबूत है बताइये ?" "उन्होंने कहा कि आप इस सेठ को अपने पास रखिए और इसके घर पर आदमी भेज दीजिए, इसकी अमुक अलमारी में एक बही रखी है, अमुक नम्बर पन्ने में रसीद कटी रखी है, आप मँगवा लीजिए। अगर आपको मिल जाए तो यही सबूत मानिए"-ऐसा कहकर रघुनाथजी चले गये। गवाह का काम पूरा हो गया। उसके बाद सेठ के यहाँ जाकर तलाशी ली गई तो अलमारी में से उस नम्बर की बही भी निकाली और उस बही में से वह रसीद भी निकली। भगतजी छूट गए, उनका मामला खत्म हो गया। पर जज साहिब सोचने लगे कि यह कौन हो सकता है कि जो सेठ के घर में किस अलमारी में कौनसी बही में किस पन्ने में रसीद रखी है, ऐसी पक्की गवाही दे सकता है ?

उन्होंने भगतजी को बुलाया और कहा, आपका मुकद्दमा खत्म हो गया, आप जीत गए, आपका गवाह पक्का निकला, सबूत हो गया कि आपने रुपये दे दिए थे। यह बात खत्म हो गई। लेकिन अब मेरी एक बात सुनिए और मुझे बताइए कि यह आपका गवाह कौन है ? भगतजी हँसने लगे, कहने लगे, "साहब ! वह गवाह तो मेरा प्राणाधार है, मेरे जीवन का आधार है और मैं क्या बताऊँ ? मैंने उनका नाम और पता लिखवाया था 'रघुनाथजी, कनक भवन, अयोध्या।' फिर भी आपकी समझ में नहीं आया कि वह कौन है, और कौन हो सकता है ? उनके अतिरिक्त इस संसार में मेरा और कौन है ?" भगतजी अपने आनन्द में मस्त, अपने रघुनाथजी के आनन्द में मस्त।

जज साहिब घर गए तो उसी समय से उनके सिर में एक बात चक्कर काटने लगी कि अच्छा, भगवान मेरी कचहरी में आए और मैं

कुर्सी पर बैठा रहा। यह तो बड़े दुःख की बात है कि भगवान मेरे कोर्ट में आए और मैं कुर्सी पर बैठा रहा, मैंने प्रणाम भी नहीं किया। अरे ! मैंने उनको पकड़ क्यों नहीं लिया ? प्रभु आए, इस बात से वे बड़े आल्हादित हो गए, मुग्ध हो गए। उन्होंने निश्चय किया कि जिस कुर्सी पर बैठकर भगवान छूट गए उस कुर्सी पर फिर नहीं बैठूँगा, और वे नहीं बैठे, उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। वृन्दावन आ गए। स्वामीजी के साथ मैंने अनेक बार उनके दर्शन किए।

उनके ध्यान में क्या रहा होगा, इसका तो मुझे पता नहीं, लेकिन एक बात स्पष्ट मालूम होती थी कि वे सब समय इसी चिन्तन में रहते थे कि पता नहीं रघुनाथजी किस वेष में आ जाएँ। श्री बांकेबिहारीजी के मन्दिर के दरवाजे पर खड़े हुए उनके कई बार दर्शन हुए। उनका भाव यही रहता था कि न जाने किस वेष में भगवान इस मन्दिर में जा रहे होंगे इसलिए जितने लोग उस दरवाजे से पार होते उन सब की चरण धूलि चौखट में से पोंछ-पोंछकर अपने सिर में, देह मे लगाते रहते थे। भीतर नहीं जाते थे। भीतर जाने से उनको मतलब क्या ? वे तो यही सोचते रहते थे कि मन्दिर में जा रहें हैं लोग, न जाने इन्हीं में से कौन से भगवान होंगे, तो उनकी चरणधूलि उनको प्रिय थी, लगाते रहते थे शरीर में।

स्वामीजी महाराज ने जो लिखा है कि दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति हो जाती है, तो दिव्य-जीवन था उस भगत का जिसके गवाह बने भगवान। इस भगत के दिल में बड़ा जोरदार विश्वास था कि मेरे सब कुछ रघुनाथजी हैं, माता-पिता भी रघुनाथजी हैं, भाई-बन्धु भी रघुनाथजी हैं। सब विश्वास, सब सम्बन्ध सिमट करके रघुनाथजी में समाहित हो गए थे। तो माता-पिता रघुनाथजी हैं, भाई-बन्धु रघुनाथजी हैं, अब दुनियाँ के गवाह की जरूरत हुई तो गवाह भी रघुनाथजी को छोड़ करके और कौन होगा ? वह भी एक सम्बन्ध ही है न। मेरे पक्ष का मेरा आत्मीय गवाह है। तो उसमें,

उसके भीतर में, जीवन की दिव्यता में, रघुनाथजी के प्रति एक अपनेपन का भाव था और उसने कोर्ट में लिखवा दिया, मेरे गवाह का यह नाम है, यह पता है। यह सब तो उसके भीतर भाव ही था, उसी भाव के अनुरूप आकृति बन गई। उस आकृति को उसी अकेले भक्त ने देखा हो, सो तो नहीं, सब ने देखा। इस प्रकार भाव के अनुरूप आकृति बनती है।

दिव्य-जीवन में भाव से आकृति का निर्माण होता है और यह दोनों तरफ से होता है। भक्त के हृदय में भगवान के प्रति जो भाव है, भगवान उसी भाव के अनुसार अपनी आकृति बना लेते हैं। ऐसा भी है और भक्त के भीतर अपने सम्बन्ध में भगवान के प्रति जो भाव है, वह भाव भी शरीर बन जाता है। किसी ने भगवान को अपना बालक माना, और अपने में भगवान की माता- यह हाड़-माँस का बना हुआ शरीर जो भौतिक तत्त्वों का है सो नहीं- तो जिन भक्तों ने अपने में भगवान की माता का भाव रखा, भौतिक शरीर से उनका सम्बन्ध छूट गया और भाव शरीर में मातृत्व लेकर के भगवान को लाड़-लड़ाते हैं और भगवान उस प्यार को, वात्सल्य से ओत-प्रोत प्यार को लेकर के खूब आनन्दित होते हैं।

भाव से आकृति बन जाती है-यह दोनों तरफ से होता है। भक्त के भाव के अनुसार भगवान बन जाते हैं और भक्त ने अपना जो भाव रखा परमात्मा के प्रति तो उसका स्थूल शरीर से संग छूट जाता है और प्रेमभाव से एक भाव शरीर उसका बन जाता है जोकि परमात्मा को लाड़-लड़ाता है। आपने सुना होगा गोपी-चरित्र में, कि शरद पूर्णिमा की रात्रि में जब भगवान ने वंशी बजाई और वंशी की ध्वनि में सखियों का, गोपियों का नाम ले लेकर पुकारा तो सब दौड़ पड़ीं, कोई रसोई बनाते-बनाते छोड़कर भागी; कोई बच्चे को दूध पिलाते छोड़कर भागी; कोई उल्टा-सीधा श्रृंगार किए हुए भागी। इस तरह से बहुत-सी गोपियाँ चली गईं और कुछ ऐसी भी थीं कि

उनके शरीरधारी घरवालों ने जाने ही नहीं दिया। एक गोपिका के बारे में ऐसा लिखा है कि उसके पति ने बहुत डाँटा और कहा कि अब इस समय मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। अब वह नहीं मान रही थी, तो घर में रखकर बन्द कर दिया। उसका भौतिक शरीर तो वहीं रह गया और वह भाव शरीर से पहुँच गई रास मण्डली में। और ऐसा सुना जाता है कि शरद पूर्णिमा की वह रात्रि, जिस रात्रि को भगवान ने रास लीला की थी, वह रात्रि छः महीने की हुई। केवल दस-बारह घन्टे की रात नहीं थी वह, बहुत लम्बी रात्रि हुई थी वह और उतने दिनों तक प्रेम के आदान-प्रदान में वह गोपिका अपने उसी सखी रूप में भगवान के रास में सम्मिलित रही, और नृत्य भी किया, रास भी किया, प्रेमास्पद को रस दिया भी और प्रेमास्पद से रस लिया भी। तो स्थूल शरीर जो था वह गोप वाले घर में बन्द रहा और भाव शरीर से वह भगवान के पास पहुँच गई। तो भाव से आकृति बन जाती है-यह दोनों ही तरफ से सत्य है। भक्त की भावना के अनुसार भगवान आकृति बना लेते हैं और भगवान के प्रति अपनी भावना के अनुसार अपना भाव शरीर बन जाता है।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग है। बिहार प्रान्त के छपरा जिले में एक सज्जन थे, शिक्षा विभाग में डिप्टी इन्सपैक्टर का काम करते थे। उनका नाम था भगवान प्रसाद ! एक बार उनके इन्सपैक्टर (Inspector General) इन्सपैक्शन में आ रहे थे स्कूल का निरीक्षण करने के लिए। Deputy Inspector भगवान प्रसाद भगवान के भक्त थे, अपने घर में प्रातःकाल पूजा में बैठे तो उनकी समाधि लग गई। उनको याद ही नहीं रहा कि समय पर ड्यूटी पर जाना है। शरीर से उनका सम्बन्ध टूट गया था, अब जाएँ कैसे ? स्टेशन पहुँचें कैसे ? इन्सपैक्टर जनरल को उन्होंने रिसीव नहीं किया। स्कूल तक वे पहुँचाने नहीं गए। निरीक्षण नहीं करवाया। समाधि में बैठे रहे। लेकिन उनकी जगह पर एकदम उन्हीं के समान बनकर भगवान

काम करने आ गए। किसी को पता नहीं चला। Inspector general का नाम था जगत नारायण लाल। वे और भगवान प्रसाद दोनों मित्र भी थे और दोनों भगवान के भक्त भी थे। वे जब आए तो Deputy Inspector को उन्होंने उपस्थित देखा और दोनों ने मिलकर सब काम किया। छपरा से ट्रेन में बैठकर माँझी आए। जब वे Head quarter में छपरा स्टेशन पर पहुँचे तो वहाँ पहुँचते ही डिप्टी साहब बने हुए भगवान अन्तर्धान हो गए।

इधर पूजा में लीन डिप्टी साहब की समाधि टूटी तो वे घबरा कर उठे। भागे-भागे स्टेशन आए और हाथ जोड़कर खड़े थे कि बड़े साहब से क्षमा माँगूगा, मैं तो भूल ही गया। बहुत तकलीफ हुई होगी। कैसे Inspection हुआ होगा, बड़े चिन्तित थे। ट्रेन पर जगत नारायण लाल उतरे। इधर डिप्टी साहब खड़े हैं हाथ जोड़कर, कह रहे हैं कि सरकार बड़ी चूक हो गई। हम आपके साथ नहीं गए, हम आपके साथ काम नहीं करा सके, आपको बहुत तकलीफ हुई होगी। जगत नारायण लाल खड़े-खड़े इनको बड़े ध्यान से देख रहे हैं कि बात क्या है ? उनका चपरासी भगवान प्रसाद से कहने लगा, हजूर, आप क्या कह रहे हैं ? आप गए तो थे हमारे साहब के साथ, आप अभी तो हम लोगों के साथ ट्रेन से आ रहे हैं तो किस लिए हाथ जोड़ रहे हैं ? क्या चूक हुई है आपसे ? आप अभी तो हमारे साथ आए हैं, ट्रेन से। अब यह दोनों भगवत्-भक्त समझ गए कि मामला क्या है। फिर जगत नारायण लाल चले गए अपने दफ्तर और भगवान प्रसाद रोते-रोते घर चले आए और भगवान के पास बैठकर अपने ठाकुरजी से खूब दुःख सुनाया। 'हे सरकार !'-बिहार की भोजपुरी भाषा में सरकार कहने की पद्धति है- तो बोले, "हे सरकार, आपको बड़ा कष्ट हुआ। मैं चूक गया सरकार ! आपको काम करना पड़ा, ऐसी नौकरी करके क्या करूँगा ?" अत्यन्त अधीर होकर उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया ! वे बड़े ऊँचे भक्त हुए। अयोध्याजी में वे

रूपकलाजी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका वहाँ पर स्टेच्यू भी बना हुआ है। बहुत उच्च-कोटि के भक्त माने जाते हैं वे। भगवान के साकेत के पार्षदों में से अष्ट सखियाँ जो अलग-अलग कार्य के लिए भगवान के साथ निरन्तर रहती हैं, किशोरीजी के साथ निरन्तर रहती हैं, उनमें से एक हैं रूपकलाजी ! और रूपकलाजी की बहुत-सी रचनाएँ भी है और बड़ी महिमा है उनकी।

इस उदाहरण से मैं आपको क्या बताना चाहती हूँ कि भाव से आकृति का निर्माण हो गया दिव्य-जीवन में। चूँकि वह दिव्य है, इसलिए उसमें सातत्य है, नाश नहीं होता। उसका और भक्त की भावना के अनुरूप उसकी प्रीति का आदर करने में भगवान अपना रूप बना लेते हैं। चूँकि डिप्टी इन्सपेक्टर भगवान प्रसाद पूजा के समय प्रभु के प्रेम में समाधि में डूब गए अर्थात् अपने प्रेमास्पद से एक हो गए तो उनके प्रेमास्पद ने यह रूप बनाया और उनका लौकिक काम पूरा किया। इसका मतलब यह नहीं कि उस काम का बड़ा महत्त्व है। अपनी जगह पर वह ठीक है और हम लोगों को कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिए बहुत प्रेरणादायक है। लेकिन इसमें विशेष अर्थ यह है कि भक्त जब अहं शून्य होकर उस दिव्यता में डूब गया, भौतिकता उसकी खत्म हो गई, तब भगवान प्रसाद की संज्ञा जो थी वह प्रभु प्रेम के रूप में बदल गई। समझ में आता है न ? वह संज्ञा जो थी, एक अलग यूनिट (Unit), वह प्रभु-प्रेम में बदल गई। जिस समय वह अहं शून्य होकर प्रभु के प्रेम में खो गये, उस समय भगवान को बहुत अच्छा लगा, अपने भक्त की जगह उसका काम करने में बड़ा आनन्द आया। तो आकृति बन गई और ऐसी बन गई कि किसी ने पहचाना ही नहीं। चपरासी तो उनको समझाता ही रहा कि साहब आपको क्या हुआ है ? आप साथ ही तो गए थे, साथ ही आए हैं; सब काम ही तो कराया है। ऐसा होता है। रूपकलाजी का शरीर अब नहीं है लेकिन उनकी भक्ति-भावना, प्रभु के प्रति

उनका प्रेम विद्यमान है, उसका नाश कभी नहीं होगा।

अब दूसरा सूत्र मिला है व्याख्यान के लिए। प्रीति का समूह व्यक्ति का अस्तित्व है। व्यक्ति किसी न किसी की प्रीति है; व्यक्ति का अस्तित्व है किसी न किसी की प्रीति का समूह।

इसका अर्थ जैसा मेरी समझ में आता है वो यह है कि जिज्ञासु का अस्तित्व मात्र जिज्ञासा हो जाता है। ऐसे प्रेमीजन का अस्तित्व ही मात्र प्रेम रह जाता है और इसको थोड़ा उलट के भी कह दें, ऐसा कह दें कि जैसे कोई धन का लोभी लोभ से प्रेरित होकर धन के लिए जुटा हुआ हो, उसका अस्तित्व धन का लोभ रह जाता है। जैसे कोई विषयी किसी विषय से प्रेरित होकर विषयवस्तु के लिए व्यग्र हुआ हो तो उसका अस्तित्व ही विषयासक्ति बन गया। वैसे ही प्रभु का प्रेमी या सत्य का शोधक अथवा परम तत्त्व के लिए योग की चेष्टा में जो लगा हुआ हो- तो जिसकी प्रीति जिससे होती है, वह प्रीति का समूह ही उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व बन जाता है, और उसमें दूसरा कुछ नहीं रहता है।

तीसरा सूत्र अविवेक के सम्बन्ध में है। अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्वतन्त्र अस्तित्व जिसका है, उसमें अविवेक नहीं है। यह तो हम जब विवेक का अनादर करते हैं तो विवेक का अनादर करने से अविवेकपूर्वक काम करने लग जाते हैं। जब तक हम अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति को सुखद मानकर उसको अपने में रहने देते हैं तब तक अविवेक रहता है और जिस समय सचेत होकर विवेक का आदर करने लग जाते हैं तो हमारे त्याग करने मात्र से अविवेक का नाश हो जाता है। दूसरे शब्दों में ऐसे भी कहा महाराजजी ने, कहीं-कहीं लिखाया भी है इस तरह से कि बुराई का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; भलाई का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसलिए व्यक्ति जब अविवेकपूर्वक बुराई करने में लग जाता है, उस समय भी

उसके अहं में से भलाई का नाश नहीं होता। बहुत ही अनर्थकारी काम में जुटे हुए व्यक्तियों के मुख से भी आप बहुत अच्छे-अच्छे वचन सुनते होंगे। जो अविवेकपूर्वक् बुराई करने में लग गया है वह भी जब आपस में बैठकर के बातचीत करने लग जाता है तो कहता है; अरे भइया, संसार नाशवान है। क्या लेकर आए हैं, क्या लेकर जाएँगे। ऐसी बातें लोग करते हैं, तो भलाई का नाश कभी नहीं होता है, सच्चाई का नाश कभी नहीं होता है, क्योंकि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। लेकिन मनुष्य एक ऐसा विलक्षण जीव है भगवान की धरती पर कि उस भलाई के मूलरूप से विद्यमान रहते हुए भी वो बुराई करने पर तुल जाता है। जान-बूझकर जब वह भलाई, जो बीज रूप से विद्यमान है, पर ध्यान नहीं देता है; विवेक का प्रकाश जो उसमें विद्यमान है उसका अनादर करता है। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इस बात को जानते हुए भी किसी भय से भयभीत होकर, अथवा किसी लोभ से प्रेरित होकर न करने वाला काम भी करने लग जाता है, तो जिस काल में वह ऐसा करने लग जाता है उस काल में बुराई पैदा होती है। और जिस काल में जो नहीं करना चाहिए उसे करना छोड़ देता है, तो उसी समय बुराई समूल नष्ट हो जाती है, क्योंकि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भलाई को छोड़ कुछ देर के लिए हम बुराई में फँस जाते हैं तो भलाई का समूल नाश नहीं हो जाता। वह विद्यमान रहती है और दबी रहती है और बुराई का त्याग मनुष्य जब कर देता है उसका समूल नाश हो जाता है। इसी आधार पर महाराजजी ने ऐसा भी कहा कि आपने किसी मनुष्य को ऐसा नहीं देखा होगा जो सर्वांश में बुरा हो। लेकिन ऐसे मनुष्य आपने देखे होंगे जो सर्वांश में भले हों। ऐसा होता है। सब प्रकार की बुराइयों का त्याग करके सर्वांश में व्यक्ति निर्मल हो सकता है लेकिन जो सब प्रकार की भलाई का नाश कर डाले, ऐसा कोई मनुष्य नहीं होता है।

अब अगला सूत्र है-समस्त वस्तुएँ अमरत्व की ओर दौड़ रही हैं, क्योंकि परिवर्तन के ज्ञान में ही अपरिवर्तनीय की लालसा विद्यमान है।

यह बहुत बढ़िया बात है। समस्त वस्तुएँ अमरत्व की ओर दौड़ रही हैं। एक प्रत्यक्ष उदाहरण : नदियों का प्रवाह समुद्र की ओर है। जिसमें से उनकी उत्पत्ति हुई उसी में पुनः प्रवेश। समुद्र के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ी, सूर्य की किरणों से उसमें जलवाष्प बना, वे बादल बनकर आकाश में गए, वर्षा होकर, जल होकर फिर वापस गिरे, वहीं से सिमट-सिमटकर, समुद्र से कितनी भी दूरी उनकी क्यों न रही हो उनकी दौड़ किसकी ओर है ? समुद्र की ओर। तो समस्त वस्तुएँ अपने उद्‌गम की ओर दौड़ रही हैं। इसलिए इस परिवर्तनशील जगत् को, अगर कोई आँखों वाला है, जो देख सके, तो इस परिवर्तनशील जगत् का संदेशा भी हम लोगों के लिए परमात्मा की ओर है। वस्तुओं की नश्वरता, वस्तुओं में परिवर्तनशीलता बहुतों को, बहुत से साधकों को अनन्त की ओर आगे बढ़ा देती है; क्योंकि इनसे हम लोगों को सन्देशा मिलता है। नाशवान की नश्वरता को देखकर के अविनाशी की ओर उन्मुख होने का सन्देशा मिलता है।

स्वामीजी महाराज एकबार किसी को कुछ कह रहे थे कि भैया, संसार कह रहा है कि मुझमें कुछ नहीं है। 'यह' माने दृश्य जगत् का दृश्य। 'यह' आपसे कह रहा है आप सुनते क्यों नहीं ? आप उसकी बात समझते क्यों नहीं ? वह कह रहा है- अरे भैया ! मुझमें कुछ नहीं है, मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता, मैं तुम्हारा होकर रह नहीं सकता, मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मेरे पीछे क्यों दौड़ रहे हो, मेरे भाई ? मेरे पास क्यों चिपके हुए हो ? तो हर नष्ट होनेवाली वस्तु हर सचेत व्यक्ति को अपनी नश्वरता का सन्देश देकर अविनाशी को पकड़ने के लिए प्रोत्साहन देती रहती है।

एक समय ऐसी बातचीत हो रही थी कि वहाँ से कोई समाचार

तो आता ही नहीं है कि कब क्या करना है, तो कैसे आदमी जाने, कैसे तैयार हो ? इस पर एक सन्त ने कहा कि कितनी चिट्ठियाँ आ गईं तुम्हारे पास, तुम पढ़ते ही नहीं हो, तो क्या किया जाए ? वहाँ से कितनी चिट्ठियाँ आ गईं, तुम पढ़ते कहाँ हो ? प्रश्नकर्त्ता ने पूछा, कि महाराज, हमको तो पता ही नहीं चला, क्या चिट्ठी आई है ? तो सन्त ने कहा, कि अरे भाई, ये दाँत जो गिर-गिरकर झड़ गए-एक दाँत टूट गया तो एक चिट्ठी आ गई कि नहीं ? चिट्ठी आ गई है कि मैं जा रहा हूँ इसलिए सब साथी हमारे चले जाएँगे। तो चिट्ठी तो आती है तुम पढ़ते ही नहीं हो। पढ़ो तो तुम्हें पता चल जाए। सन्देशा तो आया है वहाँ से, समाचार तो आता ही रहता है। अनेक प्रकार की घटनाएँ जो मंगलमय विधान से हम लोगों के जीवन में होती हैं, वो हर घटना उन लोगों को उस परम प्रेमास्पद का प्रेम-निमन्त्रण ही तो है। उनसे रहा कहाँ जाता है ? न खुद चैन से रहते हैं, न हमको रहने देते हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, खटपट लगाए रहेंगे सब समय। सन्देशा भेजते ही रहते हैं। समाचार आता ही रहता है; बुलावा आता ही रहता है; हर भाई हर बहन को जगाया ही जाता है; चेतना दी जाती है; कहा जाता है कि भाई ! यहाँ तो कुछ है नहीं; यह तुम्हारा घर नहीं है।

सन्त कबीर ने कहा न "रहना नहीं देश बिराना है" यहाँ रहना नहीं है, अपने घर पहुँचना है। इस बात का सन्देशा अनेक रूपों में अनेक ढंग से आता ही रहतर है। जो जिन्दादिल लोग हैं वे इन्हीं बातों में से सन्देशा अपना लेते हैं। खूब रहस्य है इस बात में ! आँखें खोल कर देखने पर इस दृश्य जगत् की नश्वरता में भी अविनाशी का सन्देशा मिलता है और इस दृश्य जगत् की सुन्दरता में भी अविनाशी का सन्देशा मिलता है। स्वामीजी महाराज सुनाते थे कि कोई एक सज्जन थे जो किसी रूपवती स्त्री को बड़े गौर से देख रहे थे। वह महिला बहुत समझदार थी। उन्होंने कह दिया "जो गैरों की

सूरत पर होते हैं शैदा, वो दुनिया में रंजोअलम देखते हैं।" वे सज्जन सत्य के शोधक थे तो उन्होंने भी लिख दिया, "तुझ से न मतलब, न सूरत से तेरी, मुसव्वर की हम तो कलम देखते हैं।"

मुसव्वर की मैं तो कलम देखता हूँ। जगत् के सम्बन्ध में यह दार्शनिक विचार है कि वह अव्यक्त ही व्यक्तरूप में फैला है और उसी ने हम लोगों को बनाया, और अपने प्रेम के विस्तार के लिए बनाया। अकेले रहा नहीं गया तो हम लोगों को बनाया। इसलिए यह जगत् जो है यह हम लोगों को परमात्मा से बिछुड़ाने वाला नहीं है। इसकी नश्वरता भी परमात्मा के पास पहुँचने का संदेशा देती है, और इसकी सुन्दरता भी उनकी ओर आकर्षित करती है। एक ग्रन्थ है The Himalayas (हिमालय पर्वत का)- उसके विविध चित्रों के संग्रह और उसका कुछ विवेचन इसमें दिया गया है फोटोग्राफी के साथ। उसमें मैंने पढ़ा था- आप लोगों को समय-समय पर सुनाया करती हूँ मैं-एक जापानी फोटोग्राफर युवक है। उसने प्राकृतिक सुन्दरता को देखकर के ऐसा अनुभव किया कि जो कुछ मैं देख रहा हूँ उन सब देखे हुए के भीतर एक अनदेखी शक्ति का आभास मुझे मिल रहा है और ऐसा लग रहा है कि वह जो अदृश्य सत्ता है वह मुझ में बड़े फोर्स force के साथ भर रही है, उस सुन्दरता को देखकर मुझको ऐसा लग रहा है कि इस सुन्दरता के विस्तार में और इसकी विचित्रता और इसके आकर्षण में कौन प्रकट हो रहा है ? वही प्रकट हो रहा है, जो सबकी सत्ता के रूप में है। अगर वह नहीं होता, तो यह सुन्दरता भी नहीं होती। जैसे यह प्राकृतिक सुन्दरता उस अदृश्य शक्ति की अभिव्यक्ति है। अगर यह प्रकृति न होती तो मनुष्य भी न होता, यह पर्वत नहीं होते। यह सुन्दरता नहीं होती तो यह मनुष्य भी नहीं होता। कहने का मतलब क्या है ? कि वह एक ही परम सुन्दर अदृश्य सत्ता है जिसकी अभिव्यक्ति में प्रकृति भी है और हम भी हैं-ऐसा उस जापानी युवक को महसूस होता है। वह

भगवान को खोजने के लिए ऋषि-मुनियों की तरह उत्तराखण्ड में वास करने नहीं गया था। न उसने ध्यान लगाया, न जप किया, न कुछ किया। लेकिन प्राकृतिक सुन्दरता में एक ऐसी भव्यता, एक ऐसी दिव्यता का दर्शन उसने किया कि वह मुग्ध हो गया। इसलिए मैं दोनों ही तरह से मानती हूँ। संसार की नश्वरता भी मनुष्य को आगे की बढ़ने का संदेशा देती है, और संसार की सुन्दरता भी उस परम सुन्दर की ओर हमें आकर्षित होने की प्रेरणा देती है।

अब अगला प्रश्न है :- प्रेमास्पद प्रेम-भाव से हम लोगों को बना करके सृष्टि में रखते हैं, तो ऐसा लगता है कि जैसे अत्यन्त निकट इस प्रतीक्षा में ही रहते हैं कि किस समय हमारे में से अनित्य का भाव मिटे और नित्य जीवन का भाव जगे। जरा भी देर नहीं लगती। नित्य जीवन का भाव जगा नहीं कि वे अपने को प्रकट करने के लिए बहुत लालायित रहते हैं। बहुत ही लालसा में भरे सब समय हमारे भीतर-बाहर, दाएँ-बाएं ऊपर-नीचे सब तरफ विद्यमान, और सब समय इस बात के लिए प्रस्तुत कि कब मेरा यह बच्चा नाशवान की ओर से मुख मोड़कर मुझ दिव्य से मिलने के लिए अभिलाषा करेगा। भाव आपके भीतर जगा नहीं कि उनको थोड़ा-सा भी बहाना दे दो, थोड़ा मौका दे दो तो जल्दी से अपनी दिव्यता का प्रकाश करके आपको अपनाने और अपने प्रेम का रस भरने के लिए तैयार रहते हैं। जरा-जरा-सी देर में दृष्टि बदलती है, सृष्टि बदलती है, जरा-जरा-सी देर में देह का भास छूटता है। पक्षियों को आकाश में उड़ते हुए देखकर किसी ने देहाभास छोड़ दिया; बादलों को आकाश में उड़ते हुए देखकर किसी ने देह का भास छोड़ दिया; समुद्र की उठती हुई लहरियों को देखकर किसी ने देह का भास छोड़ दिया; किसी बच्चे को माँ के साथ लाड़-दुलार करते हुए देखकर किसी ने देहाभास छोड़ दिया। ऐसा अद्‌भुत प्रसंग है कि मैं क्या बताऊँ ? सचमुच इस जगत् रूप में वे जगत्पति ही व्याप्त हैं

चारों ओर। केवल हमारे अपने अहं के परिवर्तन की देर है, उनके प्रकाशन में देर लगती ही नहीं है। स्नान किए हो या कि नहीं, रात के गन्दे कपड़े में पड़े हो या भोजन कर रहे थे तो मुँह धोया कि नहीं, हाथ में जूठन लगा है कि मुख में जूठन लगा है- इन बातों का कुछ भी असर नहीं होता है। अनित्यता छूटी और नित्य जीवन का भाव आया नहीं कि सृष्टि भी बदली, आकृति भी बदली, जीवन भी बदला। क्या से क्या हो जाता है। जैसे-जैसे इस बात का परिचय मिलता है वैसे-वैसे लगता है कि हाय रे ! हम ने कितने दिन बिछुड़ कर बिताए, कितने दिन तुम्हारी याद के बिना खोए। जीवन का रस जाना ही नहीं। खैर, कोई बात नहीं। अब तक खोए सो खोए, अब नहीं खोयेंगे। भक्त शिरोमणि तुलसीदासजी की पंक्तियाँ हम लोग अपने लिए दुहरा लें -

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं,
राम-कृपा भव-निशा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं।

अब हम लोग नहीं चूकेंगे। जीवन की हर घटना में अपने परम प्रेमास्पद का सन्देशा पाकर सतत जाग्रत रहेंगे, दिव्य-चिन्मय प्रेमरस पाएँगे।

(80)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

बुराई रहित होना-स्थूल शरीर को शुद्ध करना है, अचाह होना-सूक्ष्म शरीर को शुद्ध करना है और अप्रयत्न होना-कारण शरीर को शुद्ध करना है। हम लोगों के सामने प्रश्न यह है कि मन को शान्ति नहीं मिलती और जब समय हम लोग लेते हैं चुप होने के लिए, शान्त रहने के लिए, विश्राम पाने के लिए तो उस समय स्थूल

शरीर से काम करना छोड़ देने पर भी सूक्ष्म शरीर में अर्थात् मन में इतने प्रकार के चिन्तन आते हैं कि शान्त रहने का आनन्द नहीं आता- यह दशा है! इसका इलाज स्वामीजी महाराज बता रहे हैं। क्या बता रहे हैं ? यह नहीं कह रहे कि कहाँ बैठोगे, कौन वन में कुटिया बनाओगे, कैसे आसन लगाओगे ? आँख बन्द करोगे कि कान बन्द करोगे, सो सब कुछ नहीं। यह सब करने से सूक्ष्म शरीर न शान्त होगा न शुद्ध होगा। सही उपाय क्या है- कि हमें कर्त्तव्यनिष्ठ होना है, धर्मात्मा होना अर्थात् बुराई रहित होना है। धर्मात्मा होने का अर्थ क्या है ? किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई न करना।

अब यहाँ से साधना आरम्भ हो रही है- जीवन में से बुराई का अन्त करो। करने का जो हिस्सा है, वह स्थूल शरीर के द्वारा सम्पादित होता है इसलिए बुराई करना छोड़ दो तो स्थूल शरीर शुद्ध हो जाएगा। फिर अचाह हो जाओ; किसी प्रकार की कोई कामना न करो। अप्राप्त की कामना ही चाह कहलाती है। अब इतना धन हो जाए, इतना सम्मान मिल जाए, इतने सुख की सामग्री हो जाए, ऐसा पद मिल जाए, ऐसा मकान मिल जाए, ऐसे सगे-सम्बन्धी मिल जाएँ-इस प्रकार की जो इच्छाएँ है, वे इच्छाएँ हैं, वे इच्छाएँ ही व्यक्ति को चंचल बनाती है; उसी से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न होता है। व्यर्थ चिन्तन का नाश करना हो तो सूक्ष्म शरीर को शुद्ध करना पड़ेगा। सूक्ष्म शरीर की शुद्धि अचाह होने से होती है चाह छोड़ दो तो सूक्ष्म शरीर शुद्ध हो जाएगा। स्थूल शरीर की शुद्धि, सूक्ष्म शरीर की शुद्धि और फिर कारण शरीर की शुद्धि- इसी शुद्धि के आधार पर व्यक्ति को विश्राम मिलता है।

इस रहस्य को बहुत कम लोग जानते हैं। अनेको पंथ हैं, तरह-तरह के विधि-विधान से लोग सिखाते रहते हैं। मानव सेवा संघ के प्रणेता संत ने जीवन की वैज्ञानिकता को सामने रखा और यह कहा कि भाई, जब तुम बुराई रहित हो जाओगे, तब तुम्हारा

स्थूल शरीर शुद्ध हो जाएगा और बुराई रहित होने से कर्त्तव्यनिष्ठ बनोगे, अर्थात् जो बुराई रहित भलाई करता है वह धर्मात्मा कहलाता है। धर्मात्मा की परिभाषा है-'बुराई रहित होना।' कपड़े कैसे पहनते हो ? तिलक-चन्दन लगाते हो कि नहीं, कंठी-माला पहनते हो कि नहीं, विशेष प्रकार का रहन-सहन आरम्भ किया कि नहीं ?- यह सब तो तुम्हारी मौज की बात है, जी में आए तो करना, नहीं तो मत करना। लेकिन किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई करोगे, तो धर्मात्मा नहीं हो सकते और धर्मात्मा होकर संसार में रहना सीख जाओ-यह बहुत बड़ी बात है। योगवित् होने के लिए, तत्त्ववित् होने के लिए, भगवत्-भक्त होने के लिए यह पहला कदम है।

दूसरी बात बता रहे हैं-अचाह होकर सूक्ष्म शरीर को शुद्ध करो। हमारा आपका मन जो है, वह सूक्ष्म शरीर का कार्य है। सूक्ष्म शरीर की क्रिया मन की क्रिया कहलाती है। अब मन की शुद्धि चाहिए। शान्त होने के लिए साउण्ड प्रूफ कमरा (Sound Proof Room) नहीं चाहिए कि जिसमें बाहर से किसी प्रकार की ध्वनि न आवे तो बड़ा घना ध्यान लग जाएगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि बाहर की ध्वनि जो है वह व्यक्ति को उतना ज्यादा परेशान नहीं करती, जितना भीतर की कामनाओं के कारण से उठने वाली क्रियाओं से उसे परेशानी होती है। मन के भीतर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ हैं, चहल-पहल है, चिन्तन है। व्यर्थ-चिन्तन से व्यक्ति को जितनी तकलीफ होती है, उतनी तकलीफ बाहर की ध्वनि से और बाहर के दृश्यों से नहीं होती है। अब इस भीतर की तकलीफ को खत्म करना है, इसलिए स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि अचाह होकर सूक्ष्म शरीर को शुद्ध कर लो। दो बातें हो गईं-स्थूल शरीर की शुद्धि और सूक्ष्म शरीर की शुद्धि।

अब आगे बढ़ें। फिर थोड़ी-थोड़ी देर का जो विश्राम काल चलता है, मानव-सेवा-संघ की पद्धति का साधन मूक-सत्संग है,

उसके लिए स्वामीजी महाराज कहते हैं कि थोड़ी देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाओ। यह अप्रयत्न होना है। अपना कुछ नहीं है, अपने को कुछ नहीं चाहिए और वर्तमान क्षण में कुछ करना नहीं है। इस प्रकार अप्रयत्न होने से कारण शरीर की शुद्धि होती है।

तीनों शरीरों की शुद्धि का पुरुषार्थ जब आप कर लीजिएगा, तब देहातीत जीवन के अधिकारी बनेंगे। हम लोगों को जो शरीर मिला हुआ है, इससे अलग, बिल्कुल अलग, हमारा एक स्वतन्त्र अस्तित्व है; जिसमें दुःख नहीं है, मृत्यु नहीं है, कोई अभाव नहीं है। अभी उस अस्तित्व का हमें पता नहीं है; वह देहातीत जीवन कहलाता है, वस्तुतः वही जीवन है। शरीरों के साथ मिलकर हम रह रहे हैं तो भूख-प्यास, शीत-गर्मी और अनेक प्रकार के शरीरिक कष्ट, अनेक प्रकार की शारीरिक उत्तेजनाएँ-सबका असर हम पर हो रहा है और जो लोग देहातीत जीवन में रहना सीख जाते हैं उन पर इन सब बातों का कोई असर नहीं होता है, उन्हें कोई तकलीफ नहीं होती है, कुछ कष्ट नहीं होता है। उस देहातीत जीवन तक पहुँचने के लिए तीनों शरीरों की शुद्धि की चर्चा आई।

अब उसका परिणाम देखो ! उसमें भी बड़ा भारी वैज्ञानिक सत्य है। वह क्या है ? कि जैसे मान लीजिए हम लोग अपने खाने-पहनने का, खेलने-कूदने का सुख लेना चाहते हैं, तो जिसको बहुत ही बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट भोजन करने का शौक है, जिसको शरीर के माध्यम से सुख लेने की इच्छा है, वह शरीरों का सहारा छोड़ नहीं सकता है। जिसे आँखों से बहुत ही सुन्दर मोहक रूप देखने का शौक है, वह आँखों का सहारा छोड़ नहीं सकता। जब तक आँखें रहेंगी तब तक देखने का सुख लेगा और आँखें नहीं रहेंगी तो रोयेगा। दिखने और मिटने वाला, बनने और बिगड़ने वाला शरीर जो है उससे अगर अपने सुख के लिए कुछ करना है तो सुख के भोगी में शरीरों से ऊपर उठने की सामर्थ्य नहीं आती है। वह मान

भी नहीं सकता है कि शरीरों के अलावा और भी कोई जीवन होता है, और भी कोई अस्तित्व होता है। तो समझेगा कहाँ से ? और अनुभव करेगा कहाँ से ? वो तो शरीर को ही सब कुछ मानता है। लेकिन जिन साधको को विश्राम का चाव है, जो योगवित् होकर उसमें कैसा एक नित्यानन्द का अनुभव होता है-इस बात का शौक रखते हैं, वो शरीरों के सहारे मिलने वाले जगत् के सुखों का त्याग कर देते है, जिनको नित्य-योग का शौक है वे शरीरों के सहारे भोग में लगे हुए नहीं रहते हैं ! इसलिए महाराजजी ने कहा कि पहले इसी को शुद्ध कर लो। शुद्ध कर लोगे तो उसका सहारा छोड़ सकोगे। अशुद्ध बने रहोगे तो इसमें उलझे रहोगे, शरीर का सहारा नहीं छोड़ सकोगे। यह पहली बात हो गई। योगवित् होने के लिए, तत्त्ववित् होने के लिए, भगवद्-भक्त होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सबसे पहले बुराई रहित हो जाए।

दूसरी बात वे यह कहते हैं कि जो धर्मात्मा हो जाते हैं अर्थात् शरीरों से अपना कोई सुख नहीं लेते, दुःखीजनों की सेवा में शरीर को लगाते हैं, उनको अपने लिए शरीर की आवश्यकता नहीं रहती। बुराई-रहित हो जाने से शरीर की आवश्यकता ही खत्म हो जाती है।

अब सोचो, कामना की उत्पत्ति का पता हमको कब चलता है ? जब मन में उनका चित्र दिखाई देता है। किसी सुन्दर स्वास्थ्यप्रद स्थान में जाने की आपकी इच्छा हुई तो एक कामना उत्पन्न हो गई। कामना की उत्पत्ति से व्यक्ति गतिशील हो जाता है, उसकी शान्ति खत्म हो जाती है। जाने के लिए दौड़-धूप शुरू हो जाती है। प्रोग्राम बनाना, इन्तजाम करना- बहुत-सी बातें एक साथ उसके मन में उत्पन्न हो जाती हैं। उसी के चिन्तन में उसका मन लग जाता है। वहाँ पहुँचने का सुख भी कब सुखद लगता है ? जब उसके भीतर कामना थी वहाँ पहुँचने की। और यदि आपका कोई संकल्प नहीं

था, अपनी कोई कामना नहीं थी वहाँ जाने की, तो वहाँ पहुँचकर भी आपको कोई विशेष सुख नहीं मालूम होगा- कोई विशेष अन्तर नहीं आएगा आपमें।

कामना की उत्पत्ति मात्र से व्यक्ति के भीतर चिन्तन आरम्भ होता है तो जो सब प्रकार की कामनाओं को छोड़ देगा उसके मन में किसी प्रकार का चिन्तन आरम्भ नहीं होगा। चिन्तन आरम्भ नहीं होगा तो सूक्ष्म शरीर शुद्ध हो जाएगा।

ऐसे ही आप सोचकर देखिए; कि कामना की उत्पत्ति से ही व्यक्ति के भीतर चिन्तन आरम्भ होता है। जो सब प्रकार की कामनाओं को छोड़ देगा उसके मन में किसी प्रकार का चिन्तन आरम्भ नहीं होगा। चिन्तन आरम्भ नहीं होगा तो सूक्ष्म शरीर शुद्ध हो गया। अपने लिए सुख लेना छोड़ दिया तो स्थूल शरीर की जरूरत ही खत्म हो गई। अपने जीवन में से कामनाओं का अन्त कर दिया तो सूक्ष्म शरीर की जरूरत पूरी हो गई और अपने द्वारा अप्रयत्न हो गए तो कारण शरीर की जरूरत खत्म हो गई। जिस व्यक्ति के जीवन में शरीरों के रहते-रहते शरीरों की आवश्यकता खत्म हो जाती है, वह योगवित् होने का अधिकारी होता है। यह स्वामीजी महाराज का अनुभूत सत्य है और हम लोगों को वे ऐसा परामर्श दे रहे हैं।

अब इसकी प्रक्रिया देखिए, जिसकी सब लोग चर्चा करते हैं। क्या कहते हैं ? कि भाई, इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लो। मन को निर्विकल्प कर लो और बुद्धि को सम कर लो। इन्द्रियों को विषय-विमुख करने की सामर्थ्य किसमें आएगी ? जो इन्द्रिय-लोलुप होगा उसमें आएगी या जो संयमी होगा उसमें आएगी ? जब तक इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग अपने को अच्छा लगता है, तब तक इन्द्रियों की शक्ति को मन में विलीन करना सम्भव नहीं है; क्योंकि वो तो बाहर ही बाहर रहें, भीतर से उद्रेक होता रहता है। अब

सामने का दृश्य देखेंगे, अब मधुर-मधुर ध्वनि सुनेंगे, अब सुस्वादु वस्तु खाएँगे, अब खेलेंगे, अब मन बहलाएँगे,, अब ऐसा करेंगे। इतनी इच्छाओं को लेकर इंद्रियों द्वारा विषयों का सुख लेने की कामना जिसके भीतर है, वह इन्द्रियों को विषय-विमुख नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ यदि विषय-विमुख नहीं हुईं तो मन शान्त हो ही नहीं सकता। मन की शान्ति इस बात पर निर्भर करती है कि भाई, इन्द्रियों की शक्ति को मन में विलीन कर दो। कर दो तो वो होता है अपने आप से ? जो लोग इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सुख पसन्द नहीं करते हैं, उनकी इन्द्रियों की शक्तियाँ स्वतः ही मन में जाकर विलीन होती हैं। इन्द्रियों की शक्ति मन में विलीन हो जाए और मन के लिए कोई काम नहीं रहे, क्योंकि अपना कोई संकल्प ही नहीं है, अपनी कोई कामना ही नहीं है तो मन के लिए जब कोई काम नहीं रहा- तो आदमी के मन का पता भी नहीं चलता है कि मेरे पास मन है। यह जीवन का वैज्ञानिक सत्य है,

साधक लोग परेशान रहते हैं, जिससे सुनो वही शिकायत करता रहेगा- अरे ! यह मन बड़ा चंचल है, सँभाल में नहीं रहता है, दमन नहीं कर पाते हैं, इसकी चंचलता रुकती ही नहीं- मन के बारे में ऐसी बातें करते हैं जैसे कि मन कोई बड़ा भारी दुश्मन हो लेकिन बात ऐसी नहीं है। साधक की अपनी भूल है और अपनी भूल यही है कि विविध प्रकार की कामनाओं को रखना पसन्द करो और कामना पूर्ति के सुख को पसन्द करो और कामना पूर्ति के प्रयास में लगे रहना पसन्द करो और चंचलता मिटाना चाहो तो नहीं मिटती है। इसीलिए सन्त की सलाह है कि भाई। बुराई-रहित हो जोओ तो स्थूल शरीर की जरूरत नहीं रहेगी, यह शुद्ध हो जाएगा। इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लोगे तो इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रहेगी और जब बाहर हमको कुछ देखना ही नहीं है तो कैसा भी दृश्य क्यों न सामने आया हो, जब उसको देखने का सुख ही नहीं भोगना है,

तो आँखें खोलने की आवश्यकता ही नहीं है। आँखों की शक्ति देखने में जो खर्च हो रही है वो मन में जाकर शान्त हो जाएगी। जिसको दृश्य जगत् की आवश्यकता ही नहीं है उसकी इन्द्रियों की शक्ति मन में जाकर विलीन हो जाती है। जीवनी शक्ति जो बाह्य जगत् पर जाकर खर्च हो रही है वह बच जाएगी। आप जब उस शक्ति को बाहर प्रवाहित करने से रोक देंगे, तो वह स्वतः ही भीतर प्रवाहित हो जाएगी। मन में जाकर विलीन हो जाएगी। सर्वेन्द्रियों की शक्तियाँ, सब ज्ञानेन्द्रियाँ, सब कर्मेन्द्रियाँ, सबकी शक्तियाँ अन्तर की ओर, जहाँ से निकल करके आई थीं उधर की ओर प्रवाहित हो जाती है; उद्‌गम में जाकर लय हो जाती हैं तो बड़ा विश्राम मिलता है। यह योग का पहला कदम आरम्भ हो गया। वृत्ति बहिर्मुखी नहीं रह करके अन्तर्मुखी हो गई, तो एक बहुत बड़ा काम हो गया।

फिर उसके बाद अगर आप कामना रहित हो गए, सब प्रकार की कामनाओं का त्याग आपने कर दिया, अचाह हो गए, तो मन की गतिशीलता भी खत्म हो जाती है। अब मन की शक्ति बुद्धि में विलीन हो जाती है और बुद्धि के लिए भी कोई काम बाकी नहीं रहा। आदमी बैठा है, अब यहाँ से उठकर जाने की कामना पैदा हुई, इच्छा पैदा हुई, तो वो इच्छा पूरी कैसे होगी-इस पर बुद्धि विवेचन करती है-यह इन्तजाम करो, ऐसे करो, ऐसे करो और जब अपनी ओर से कोई कामना शेष नहीं रही तो बुद्धि की जरूरत नहीं रहती। उसका काम खत्म हो जाता है, तो बुद्धि सम हो जाती है, शान्त हो जाती है-इसी को समाधि कहते हैं।

अब अप्रयत्न होने का अर्थ है; मनुष्य के जीवन में अशुभ कर्म का तो कोई स्थान ही नहीं है। शुभ कर्म की भी जब तक उत्पत्ति हो रही है तब तक कारण शरीर का सहारा चाहिए। स्फूर्ति हो रही है भीतर से शुभ कर्म के लिए, तो कारण शरीर से आरम्भ होता है, फिर सूक्ष्म शरीर पर आता है कामनाओं के रूप में, इच्छाओं के रूप

में, संकल्पों के रूप में और फिर ज्ञानेन्द्रियों के रूप में, संकल्पों के रूप में और फिर ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों के स्तर पर आता है क्रिया के रूप में। जैसे-जैसे हम अपनी ओर से अप्रयत्न होते जाते हैं फिर शरीरों की आवश्यकता नहीं रहती है। तीनों शरीरों का साथ छूट गया, अब अपने को चाहिए नहीं, ऐसे साधक को पूर्ण विश्राम मिलता है। बुराई रहित होना- पहला कदम; अचाह होना- दूसरा कदम; अप्रयत्न होना- तीसरी बात। अब ये तीनों जहाँ पूरे हो जाते हैं, वहाँ व्यक्ति योगवित् हो जाता है।

वृत्तियों को बलपूर्वक रोकने के अभ्यास में और वृत्तियाँ स्वयं ही जाकर अपने उद्‌गम में विलीन हो जाएँ- इस स्वाभाविकता में बहुत बड़ा अन्तर है। जो कारण शरीर की शान्ति की स्थिति में पहुँच गया, उसके पास मन है कि इन्द्रियाँ हैं-इसका कोई भास नहीं रहता, तादात्म्य-काल में व्यक्ति उसकी कल्पना नहीं कर सकता है। शान्त होते ही शरीर के रहने का भार अपने पर नहीं होता है। तो स्थूल शरीर का भार खत्म हो गया और मन में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं रहा, कोई कामना ही नहीं रही, तो आदमी को यह पता भी नहीं चलता कि मेरे पास मन है। मन का भार भी अपने पर नहीं रहता और यह तो सोचकर देखो, कैसी दुर्दशा है ?-किसी काम को करना है आपको, और उसमें मन नहीं लगता है और जबरदस्ती आप करना चाहते हैं तो मन का बड़ा भार मालूम होता है; आपने कभी अनुभव किया है ? अब क्या करें मन लगता ही नहीं लेकिन काम तो करना ही है। मन लगे नहीं और जबरदस्ती उस काम को करना चाहो तो बड़ा भार मालूम होता है।

ऐसे ही जिस समय आप योगवित् होना चाहते हैं, विश्राम के सम्पादन में हैं, तो आप चाहते हैं कि किसी प्रकार का चिन्तन न हो और जब भीतर से एकदम चिन्तन का तूफान उठता है, अभी कुछ, अभी कुछ, एक पर एक, भूत-भविष्य के चिन्तन से मस्तिष्क जब

भरता है, तो चिन्तन वाले मन का भार अपने को ढोना पड़ता है, तो बहुत कठिन मालूम होता है। ऐसा लगता है कि मन नहीं होता तो अच्छा था। जिन लोगों में विश्राम-सम्पादन की बात सिद्ध हो जाती है उनको पता ही नहीं चलता है कि मेरे पास शरीर है या नहीं, कि मेरे पास मन है या नहीं। तन और मन के आभास से वे छूट जाते हैं। कितनी बार ऐसा भी अनुभव हुआ है कि जिस समय ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की शक्तियाँ मन में जाकर विलीन हो जाती है, और मन की शक्ति जाकर बुद्धि में विलीन होती है तो किसी स्पर्श-संवेदना का भास भी अपने को नहीं रहता है। तब क्या रह जाता है ? एक परम शान्तिमय अस्तित्व रह जाता है, जिसमें न तन का भार है न मन का भार है। तन से छूट गए तो स्थूल शरीर से छूट गए और मन से छूट गए तो सूक्ष्म शरीर की मुक्ति मिल गई।

अब रह गयी केवल कारण शरीर की स्थिति की शान्ति ! वहाँ एकदम शान्ति रहती है और वो शान्ति ही अपना अस्तित्व मालूम होती है। उसी को भौतिक विकास की चरम सीमा बताया गया है। यह समाधि जो है-बुद्धि का सम हो जाना- इसको श्री महाराजजी ने भौतिक विकास की चरम सीमा बताया क्योंकि अभी कारण शरीर वहाँ बना हुआ है। जो साधक कारण शरीर की शान्ति की गाढ़ता में अलौकिक शक्ति की वृद्धि कर लेते हैं, उनका उस शरीर से भी तादात्म्य छूट जाता है और तब वे नित्य-योग का आनन्द लेते हैं। सब प्रकार के शरीरों से सम्बन्ध छूट जाए, तो नित्य-योग में तत्त्वबोध होता है और तत्त्वबोध में परमप्रेम होता है।

योग-बोध-प्रेम मानव के विकास की सबसे ऊँची बात है। यह जब पूरा हो जाता है तो सब प्रकार के दुःखों का अन्त हो जाता है, अभाव मिट जाता है, रसमय आनन्द से जीवन भर जाता है। मैंने भगवत-भक्त सन्तों को देखा है जिनकी इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो गई

है और परमात्मा से मिलकर प्रेम के प्रभाव में जिनका मन बिल्कुल डूब गया है।

यह भी एक बड़ा रहस्य मुझको मालूम होता है कि तन, मन और इन्द्रियों की शक्तियाँ जो हम लोगों के व्यक्तित्व में काम करती हैं- ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ समष्टि शक्ति से निकली हैं Universal Energy जिसमें से निकल-निकल कर छोटे-छोटे रूपों में हमारे व्यक्तित्व में काम कर रही है। समष्टि शक्ति का भी स्रोत कहाँ है ? अनन्त शक्तिमान परमात्मा है। अनन्त शक्तिमान परमात्मा में से शक्तियाँ निकल कर हम सब लोगों के व्यक्तित्व में काम कर रही हैं। इनको जब हम लोग बाहर की ओर से भीतर की ओर मोड़ देते हैं, तो जैसे जल की धारा बह रही है और सामने से उसको रोक दीजिए तो किधर जाएगी ? पीछे की ओर बह जाएगी। अगर आगे से उसको जाने का रास्ता नहीं दोगे और वहाँ जल बढ़ जाएगा तो धारा जिधर से आयी है उधर ही लौट जाएगी। ऐसे ही होता है। बाहर की ओर से उसको बहने ही नहीं दो, तो वो पीछे की तरफ लौट जाती है। पीछे की तरफ जाकर जब वह उसमें मिल जाती है, जिसमें से निकली थी तो यह नित्य-योग कहलाता है। उसके लिए यह पूरा इन्तजाम हम लोगों को करना है -ऐसा स्वामीजी महाराज का परामर्श है। अगर इतना हो गया तो आप मृत्युञ्जय हो गए। तब शरीर के नाश की घड़ी आएगी तो कैसा लगेगा ? जैसे कि एक मशीन अभी बोल रही थी, काम कर रही थी, और अब बन्द हो गई- ऐसा लगेगा। आप बिल्कुल निश्चिन्त और बिल्कुल आनन्द में अलग से देखते रहेंगे कि शरीर रूपी यह मशीन अभी बोल रही थी, इसमें से कण्ठध्वनि निकल रही थी, अभी कुछ हो गया, यह टूट गई, मशीन बन्द हो गई। अपने पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता, यदि आपने देहातीत जीवन के विश्राम में रहना सीख लिया है तो। कुछ नहीं, उसका कोई असर अपने पर बिल्कुल नहीं हो

सकता। यह है योगवित् होने का अर्थ, और इसी को जीवन-मुक्ति कहते हैं।

जो जीवन होता है शरीरों से अतीत का, वो अविनाशी भी होता, आनन्दमय भी होता है और प्रेममय भी होता है। कहाँ से आरम्भ करेंगे हम लोग ? कैसे हम इस जीवन में विश्राम का सम्पादन करेंगे ?-यह सब साधकों की अपनी-अपनी तैयारी की बात होती है। जो लोग स्थूल शरीर में ही फँसे हुए हैं, उनके लिए बुराई रहित भलाई करना अनिवार्य है। बहुत परिश्रमपूर्वक खूब काम करना चाहिए। महर्षि दयानन्दजी से एकबार किसी ने प्रश्न किया, कि आपने काम को कैसे जीता ? तो उन्होंने कहा-काम करके।" भीतर की जो वासना है उस पर कैसे विजय प्राप्त की आपने ? तो महर्षि ने उत्तर दिया, "परिश्रम के द्वारा"।

जो साधक अभी स्थूल शरीर पर विकारों में ही फँसे हुए हैं उनको चाहिए कि खूब परिश्रमपूर्वक सेवा कार्य करें। फिर उससे ऊपर उठें। तब क्या करें ? चौबीस घण्टे में से कुछ घन्टे शरीर से खूब काम कर लें और काम करने के बाद उसके आगे के जीवन में शान्तिपूर्वक रहें। परिश्रमपूर्वक शुद्धभाव से सर्वहितकारी काम करना और काम करने के बाद शरीर और संसार से असंग होकर शान्त रहना; यह क्रम बनाया जाए प्रतिदिन का, तो अच्छा रहेगा, विकारों पर विजय प्राप्त की जा सकेगी, सेवा करके। सूक्ष्म शरीर को शुद्ध किया जा सकेगा अचाह होकर और कारण शरीर से छुट्टी ली जा सकती है अप्रयत्न हो करके। तो धर्मात्मा होना, अचाह होना और अप्रयत्न होना-ये मौलिक बातें हैं, कि जिनसे योगवित् होना, तत्त्ववित् होना और भगवद्-भक्त होना सम्भव होता है। ये ही चार वाक्य इतने गहन गम्भीर निकले कि इस पर विचार करते रहो, इस पर चलने की कोशिश करते रहो तो अपने आप ही भीतर से इतना विकास हो जाएगा कि फिर किसी से कुछ पूछना शेष नहीं रहेगा।

कभी-कभी साधक ऐसा अनुभव करते हैं कि जब बुराई-रहित होने के लिए कोई नियम ले लेते हैं जैसे- हमें यह नहीं करना है तो उसमें मन ज्यादा जाता है और जब तक उसको कर नहीं लेते हैं तब तक उससे छूट नहीं पाते हैं। यह एक प्रैक्टिकल प्रोबलम (Practical Problem) आती है साधनकाल में। बात ऐसी है कि साधक उस बुराई में से अपनी निष्ठा को नहीं हटाता। देखिए- बुराई करने वाले को बुराई करने में केवल दुःख मिलता हो, ऐसा नहीं होता है। इन्द्रियों को बिल्कुल असंयमित छोड़ देना एक बुराई है। असंयमित छोड़ देने में केवल दुःख मिलता हो, ऐसा नहीं होता।

तत्काल पहले थोड़ा सुख होता है, बाद में दुःख होता है। जो लोग ऐसा अनुभव करते हैं, कि हमने सोचा था कि यह बुराई नहीं करेंगे और किए बिना रहा नहीं जाता है, और अपने को रोकना चाहते हैं तो भीतर से और अधिक वेग पैदा होता है-तो इसका मतलब यह है कि उस सुख के प्रलोभन का त्याग आपने नहीं किया। केवल उस सुख की क्रिया को रोकना पसन्द किया है। क्रिया के पीछे सुख का प्रलोभन अगर जीवन में रहेगा तो क्रिया कैसे रुकेगी ? जितना रोकोगे उतना ही भीतर से वेग बढ़ेगा। इसलिए प्रलोभन को छोड़ो। जहाँ-जहाँ व्यक्ति को ऐसी असमर्थता लगे कि अमुक बुराई को छोड़ने में मैं हार रहा हूँ-ऐसा पता चले तो सर्व सामर्थ्यवान से शक्ति माँगनी चाहिए। बुराई को मैं बुराई करके जानता हूँ और अपने द्वारा उसको छोड़ने में मैं हार रहा हूँ तो हे समर्थ ! आप मेरी रक्षा करें। इस प्रकार अगर समर्थ स्वामी से शक्ति माँगोगे और आवश्यकता अनुभव करोगे तो उनके बल से तुम्हारी बुराई खत्म हो जाएगी।

अपने भीतर वृत्ति को शान्त रखने में और अन्तर्मुख होकर अपने उद्‌गम से मिलने में अलौकिक आनन्द है। जीवनी शक्ति को बाहर की ओर प्रवाहित करने में योगवित् सन्तों को बड़ा भार लगता

है। एकदम पसन्द नहीं आता है। ऐसा ही कभी अवसर आ गया तब वे किसी तरह बहिर्मुख होते है। ऐसा है यह अलौकिक आनन्द ! और मुझे बहुत स्वाभाविक लगता है, यह बिल्कुल सच्ची बात है। उद्‌गम से बिछुड़ जाने के कारण ही जीवन में इतनी नीरसता भर गई कि हम लोग बाहर-बाहर जगह-जगह रस खोजते फिर रहे हैं। नहीं तो बाहर से अन्दर जाने की प्रक्रिया एकबार आरम्भ हो जाए, तो फिर आप उस उद्‌गम से मिले बिना, उस नित्य-योग से सम्पन्न हुए बिना रास्ते में रुक ही नहीं सकते हैं। ऐसा आनन्दमय है वह जीवन !

(81)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव हैं। मानव होने का अर्थ है, कि हम सभी साधक हैं। साधक होने का अर्थ है कि हमें इसी वर्तमान में सफलता मिलनी चाहिए। सफलता का अर्थ क्या है, कि जन्म-मरण की बाध्यता मिट जाए, जीवन में से अभाव का अभाव हो जाए और जीवन को जैसा हम लोग देखना चाहते हैं वैसा हो जाए।

ईश्वर-विश्वासी साधकों के लिए एक बड़ी कठिनाई रहती है और विचारकों के लिए भी यह कठिनाई रहती है कि वे मन और चित्त को जहाँ से हटाना चाहते हैं, हटा नहीं पाते और जहाँ लगाना चाहते हैं लगा नहीं पाते। तो उनकी एक बड़ी समस्या रहती है कि मन को, चित्त को कैसे संसार से हटाएँ, कैसे शान्ति में स्थित करें और कैसे परमात्मा में लगाएँ ? यह जो एक संघर्ष है साधक के जीवन का, उससे अनुभवी सन्त का हृदय बड़ा ही द्रवित होता रहता था और बहुत ही करुणित होकर वे कहा करते थे कि भैया, साधन भी ऐसी कोई बला है क्या कि तुम्हारे सिर पर एक और- कठिनाई पैदा कर दे ? संसार में तो कठिनाइयाँ थीं ही, तुम जो-जो

चाहते थे सो सब संसार में नहीं कर सके। जितना सुख चाहते थे नहीं मिला, जैसी सन्तान चाहते थे नहीं मिली, जितनी मान-बड़ाई प्रतिष्ठा चाहते थे नहीं मिली। संसार में तो तुम्हारी असफलता थी। जितना-जितना तुमने चाहा, तुम्हारे भीतर का अभाव उतना ही उतना बढ़ता चला गया, घटा नहीं। शान्ति नहीं मिली। सारे जीवन का थका हुआ आदमी जब मेरे पास आता है तो मैं भी उससे कहूँ- ऐसा करो, ऐसा करो और फिर वह करने चले तो उससे हो नहीं। साधन भी कोई मुसीबत है क्या ?

साधना का अर्थ है कि तुमको अशान्ति से शान्ति की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, अभाव से अनुराग की ओर बढ़ने में मदद मिले। शान्ति, अमरत्व और परम-प्रेम की सरसता-यह तो ऐसे तत्त्व हैं जो सब भाई-बहिनों को बहुत पसन्द हैं। इनमें तो अभाव है नहीं। इनमें तो थकावट है नहीं। इनकी साधना ऐसे कैसे हो सकती है कि आप स्वाधीन होना चाहते हों और पराधीनता अनुभव करके दुःखी होते रहें। अब आप सोचकर मुझे बताइये, कि जब आप भगवान में मन लगाना चाहते हैं और नहीं लगता, उसको शान्त और स्थिर करना चाहते हैं पर वह स्थिर नहीं होता है, तो स्वाधीनता मालूम होती है कि पराधीनता ? पराधीनता मालूम होती है न ? तो यह साधन का तथ्य भी ऐसा है क्या ? परम स्वाधीन जीवन से अभिन्न होने का अभियान आपने आरम्भ किया और उसमें भी एक घोर पराधीनता घुस गई आपके पास- कि क्या करें यह तो होता ही नहीं है। तो ऐसी बात नहीं है।

आज इस बैठक में ऐसी साधना की चर्चा भी हो जाए कि जो-जो भाई-बहन इस दिशा में आगे बढ़ने के इच्छुक हैं, वे ऐसा करने को सोच सकें। जीवनी शक्ति जो हम लोगों को भीतर-बाहर सब तरफ गतिशील रखती है, वह जीवनी-शक्ति जब तक विभिन्न भागों में बँटी हुई है और बाहर की ओर प्रवाहित हो रही है, तब तक हम

धीरे-धीरे क्रमशः प्राणहीन होने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। अब संसार के सम्पर्क में, सुखों के भोग में जीवनी शक्ति को गँवा देने पर क्या होता है कि शान्ति, मुक्ति और भक्ति जो अमरत्व की ओर ले जाने वाली बातें हैं जो नित्य तत्त्व है, जिससे अभिन्न होकर जीवन पूर्ण होता है, वह प्रोग्राम अपना शेष रह जाता है और उसके पूरा होने से पहले प्राण-शक्ति खत्म हो जाती है। तो उपाय क्या किया जाए ? सहज शब्दावली में मैं कहूँ, तो ऐसा कहना पड़ेगा कि- मनुष्य के जीवन में सत्य की अभिव्यक्ति के उपाय है : विश्राम और हरि आश्रय। कहने के लिए बहुत से शब्द कहे जा सकते हैं, लेकिन ऐसी बातें जो हर प्रकार के साधकों को और हर परिस्थिति के साधकों को मदद दे सकें, वो ही मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त हैं। वहीं मैं आपके सामने प्रस्तुत करूँगी।

हरि-आश्रय और विश्राम : ये दो ऐसे साधन हैं कि जिनके अनुसरण से सभी भाई-बहनों का कल्याण हो सकता है। विश्राम का अर्थ क्या है ? विश्राम का अर्थ यह है कि जहाँ पर आपको शरीर का भार भी अपने पर न रखना पड़े; किसी प्रकार की चिन्ता, भय अथवा प्रलोभन न रहे तो वह विश्राम कहलाता है। मानव के जीवन में विकास का एक मार्ग है:- विश्राम का सम्पादन, शान्ति का सम्पादन। यह एक विशेष मार्ग है। तो विश्राम कैसे मिलेगा ? आप कहेंगे कि भाई हम तो प्रतिदिन यही करते हैं, सोकर उठे तो दिनभर कुछ-कुछ काम किया और रात्रि हो गई, थकावट लग गई तो सो गए- विश्राम हो गया। सो नहीं ! विश्राम उसे नहीं कहते।

वैज्ञानिक सत्य यह है कि प्रकृति के द्वारा विवश किए जाने पर, निद्रा की जड़ता में डूबकर भी मनुष्य सही विश्राम नहीं पाता है। क्यों ? क्योंकि जाग्रत में जिस जगत् में वह लिप्त था, निद्रा में भी वह उसी जगत् का चित्र देखता रहता है ! स्वप्न क्या है ? उसी जगत् का चित्र है। जाग्रत अवस्था में जो कर्म के रूप में था, विकार

के रूप में था, निद्रा की जड़ता में वह स्वप्न-चित्र बनता रहता है तो विश्राम नहीं मिलता, वहाँ भी गतिशीलता है। जिस विश्राम में अमरत्व का आनन्द आता है, जिस विश्राम में अविनाशी योग होता है, जिस विश्राम में वह परम प्रेमास्पद प्रभु अपना प्रेम अभिव्यक्त करते हैं, वह विश्राम इस निद्रा की जड़ता से भिन्न है। वह कैसा है ? कि चेतना तो पूरी रहे, सचेत रहें आप, पूरी सजगता में रहते हुए भी मन से, तन से, बुद्धि से किसी प्रकार का काम न लें। तन को, मन को, बुद्धि को किसी प्रकार के काम में न लगाएँ। कर्म और चिन्तन से अलग होकर जाग्रत अवस्था में जो शान्त रह सकता है, उसे विश्राम मिलता है और उस विश्राम में अविनाशी तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं।

सब भाई-बहनों को जाग्रत-सुषुप्ति, जाग्रत-विश्राम के लिए सजग रहना चाहिए और उसकी तैयारी में लगना चाहिए। तैयारी में क्या-क्या बातें हो सकती हैं ? सबसे पहले कि अगर पसन्द आवे तो आप जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलिए कि भाई, सुख भोगने के लिए तो कुत्ते, बिल्ली संसार में बहुत हैं। सुख भोगना और दुःख को निमन्त्रण देना, प्रवृत्तियों में रत रहना और थक करके मर जाना-यह मनुष्य के जीवन का उद्देश्य नहीं है। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है ? कि शरीरों के नाश होने से पहले अपने को अमरत्व का आनन्द आ जाना चाहिए, शरीरों के नाश होने से पहले अनन्त परमात्मा के लिए प्रेम में डूब जाना चाहिए। मेरा सम्पूर्ण अहम् प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करे-यह तो भावुक भक्तों की धारणा है। और मेरे जीवन के सब विकार नष्ट हो जाएँ और हम अपने निजस्वरूप में, अविनाशीस्वरूप में स्थित हो जाएँ-यह विचारकों की धारणा है। सन्त कबीर ने कहा है -

"तन थिर, मन थिर, वचन थिर, सुरति निरति थिर होय,
कहे कबीर वा क्षणक को कल्प न पावे कोय।"

आज तक हम लोगों ने इस दिशा में सोचा ही नहीं कि श्रम में जो सुख हमें मालूम हो रहा है, उससे कहीं अधिक असंख्य गुणा आनन्द विश्राम में है। यह सोचा ही नहीं। क्रियाशीलता का वेग जब तक शरीर में रहता है, तब तक मनुष्य को कुछ करने में मजा आता है। क्रिया का वेग जो भीतर उत्पन्न हो रहा है, किसी साधन से उस वेग का निष्कासन होने से व्यक्ति को अच्छा लगता है। एक तो अच्छा लगना-यह हो गया और दूसरा- अच्छा क्यों लगता है ? -कि जब हम कुछ करते हैं तो उसके बदले में हमको थोड़ा सा सुख सम्मान की परिस्थिति बनती है। घर के भीतर भी माताएँ, बहनें जहाँ अच्छी तरह से परिश्रमपूर्वक घर को सँभालने वाली हैं, उनको दोनों तरह का सुख मिलता है। तो जहाँ भी कहीं व्यक्ति परिश्रमपूर्वक काम करता है, उसको भीतर से भी एक आराम मिलता है और बाहर से भी सुख सम्मान की परिस्थिति बनती है। इस आने-जाने वाली परिस्थिति के बीच अपने को डालकर हम लोग ऐसे मस्त हो जाते हैं कि इस घोर पराधीनता काल में भी अपने को बड़ा सुख मालूम होता है, बड़ा मजा आने लगता है। फिर जब उसी प्रकृति के विधान से शरीर की शक्तियाँ घटने लग जाती हैं तो आदमी थकित होकर बैठने लगता है। मनुष्य होने के नाते विवेक के प्रकाश में क्यों नहीं देखते हो ? यह शक्ति तो खर्च हो रही है, यह चली जाएगी तब जीवन का आधार क्या होगा ? ऐसा सोचना चाहिए।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफी दिनों तक काम किया मैंने। एक रोग का विवरण आता है वहाँ, Involutional melancholia कहलाता है। साठ-पैंसठ बरस के बाद, retirement के कुछ काल बाद व्यक्ति के भीतर एक ऐसा depression, एक ऐसी गहरी हीनता का भाव पैदा हो जाता है कि 'हाय ! मैंने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं पाया'- ऐसी एक फीलिंग (feeling) हो जाती है, यह Involutional melancholia कहलाता है। हमारे ऋषि-मनीषियों ने, जीवन के

विज्ञान और दर्शन जानने वालों ने pattern of life जीने की जो जीवन-शैली है, उसको इतना बढ़िया सैट किया कि शरीर की शक्ति घटने से पहले और कर्म की दृष्टि से असमर्थता आने से पहले आन्तरिक शक्ति के विकास में लगकर मनुष्य इतना आनन्दित हो जाता है कि उसको melancholic होने की जरूरत नहीं पड़ती। बेटे-बेटी समर्थ हो गए तो माता-पिता वानप्रस्थी हो गए, और समाज की सेवा की शक्ति घटने लगी तो संन्यासी हो गए। भीतर की आन्तरिक शक्ति और आन्तरिक आनन्द इतना बढ़ जाता है कि depressed होने का point आने की कोई जरूरत ही नहीं रहती। डिप्रैशन (Depression) तब न होगा, जबकि काम करने की शक्ति घट गई और विश्राम मिला नहीं; हाथ-पाँव ढीले हो गए, आँख से दिखाई देना बन्द हो गया, और देखने-सुनने की वासना मिटी नहीं। तब तो आदमी Depressed होगा ही। 'हाय, मैंने कुछ नहीं किया, मैंने कुछ नहीं पाया'-यह तब कहेगा।

अब विचार करना है कि साधना की शैली कैसी हो ? साधना की शैली ऐसी हो कि कर्म करो, परिश्रमपूर्वक करो और ऐसे ढंग से करो कि करने की क्षमता तुम्हारी बनी रहे, लेकिन कर्म करने की आवश्यकता खत्म हो जाए। यह शैली आप पसन्द करेंगे कि नहीं ? यह हिन्दू की पसन्दगी है कि मुसलमान की ? बुद्ध, जैन, ईसाई-किसी मजहब की बात यह नहीं है। यह मानव-मात्र का सत्य है कि काम करने की शक्ति सदा एक समान नहीं रहेगी। जब हम जन्मे थे तो असमर्थ थे, आगे बढ़ेगे तो असमर्थता आएगी। थोड़े ही दिन का तो मामला है भाई। जैसे ही अच्छे दिन आए शरीर में काम करने की शक्ति आई, स्फूर्ति और प्रकृति के विधान से विशेष प्रकार का क्षेत्र मिला, तो उसी में जल्दी-जल्दी ऐसे ढंग से क्यों न काम करो कि सन्ध्या आने से पहले उबार हो जाए।

Light of Asia एक ग्रन्थ है। उसमें एक जगह मैंने पढ़ा,

राजकुमार सिद्धार्थ दुःख-निवृत्ति का प्रश्न लेकर, युवावस्था में संन्यासी हो गए थे। एक नगर से होकर जा रहे थे। परम कारुणिक सन्त बहुत धीरे-धीरे जमीन पर पाँव रखते थे। बड़ा सुन्दर वर्णन है उनके जीवन का : How softly he walks, how sweetly he looks !

बहुत मधुर दृष्टि से सृष्टि को देखते हुए और बहुत कोमल-कोमल चरणों से धीरे-धीरे धरती पर पाँव रखते हुए- कि जिसमें किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे-ऐसे सन्त एक नगर से होकर जा रहे हैं। युवावस्था, राजवंशी राजकुमार, अत्यन्त रूपवान, स्वस्थ शरीर, संन्यासी वेष है और मुखमण्डल पर परम-शान्ति। दृष्टि में अत्यन्त प्रीति, हृदय में करुणा, और चलने की गति में कोमलता है जिसके- ऐसा एक संन्यासी नगर से होकर जा रहा है तो दूर से स्त्रियों ने देखा। उनको बड़ा कौतुहल हुआ कि ऐसा रूपवान, राजवंशी राजकुमार और युवावस्था ! और यह कैसे संन्यासी हो गया ? किसी ने व्यंग्य से प्रश्न किया -"बाबा बड़े सवेरे ?" बड़ी जल्दी निकले हो बाबा, क्या बात है ? तो दृष्टि नीचे की ओर करके, हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और सिर झुकाकर अत्यन्त कोमल वाणी में, बड़ी दृढ़ता के स्वर में उस युवक संन्यासी ने उत्तर दिया- "देवी, न मालूम कब सन्ध्या हो जाए।"

सूर्योदय और सूर्यास्त की घड़ियाँ तो गिनी हुई हैं, अपनी घड़ियाँ तो गिनी हुई नहीं हैं। कब सवेरा हुआ और कब शाम हो जाएगी-कोई जानता ही नहीं है। ऐसे ही मैं अपने भाई-बहनों को याद दिला रही हूँ कि कर्म क्षेत्र में प्रवेश करने की सामर्थ्य जब मिले, तो अपने जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण बनाकर प्रवेश करो-कि हम इसमें प्रवेश तो कर रहे हैं, परिश्रमपूर्वक उपार्जन करेंगे, उदारतापूर्वक वितरण करेंगे, मर्यादापूर्वक शरीर को सँभालेंगे और इन सारी साधनाओं से परे, शरीर की शक्ति घटने से पहले, अविनाशी की परम-शान्ति में आनन्दित हो जाएँगे, नित्य-योग में अमर हो जाएँगे, परम-प्रेम से

सराबोर हो जाएँगे। तो साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिए यह पहला कदम है, अतः अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण को स्थिर करिये।

अब नियम पर आ जाइये। प्रातःकाल चार-पाँच बजे के बीच में उठकर थोड़ी देर शान्तिपूर्वक बिस्तर में ही अपनी जगह बैठे रहिए। निद्रा सताती हो तो आँख, मुँह धो लीजिए और रात्रि में सोने के समय अगर भारी भोजन हो, गरिष्ट भोजन हो तो आलस्य रहता है, उठ करके थोड़ी लम्बी गहरी साँस ले लीजिए और फिर बिस्तर में बैठ जाइए ! थोड़ी देर के लिए शान्त होकर अपने से पूछिए कि जीवन के इतने क्षण जो बिता दिए संसार में, तो कौन सी ऐसी उपलब्धि है जो शरीर के नाश के बाद मेरे संग जाएगी ? पूछो अपने से। बहुत कुछ किया यहाँ आकर और बहुत कुछ पाया, लेकिन प्रातःकाल बैठ करके, शान्त वातावरण रहता है उस समय, सन्त लोग उसे ब्रह्म-मुहूर्त कहते हैं उस समय अकेले अपने से पूछो कि एक-एक क्षण में मृत्यु तो निकट आ रही है, हर साँस के साथ संचित प्राण-शक्ति खर्च हो रही है, तो अब तक जो कुछ मैंने संग्रह किया, प्राप्त किया, पढ़ना-लिखना किया, धन इकट्ठा किया, कुटुम्ब बनाया- जो भी कुछ किया संसार में, उसमें से कौनसा ऐसा भाग है जो कि शरीर के नाश के बाद भी मेरे जीवन को सहारा देगा, मुझको सन्तोष देगा, मेरा साथ देगा, मेरे संग रहेगा ? ऐसा प्रश्न अपने से करिए और उत्तर में अगर यह मिले कि जब यह शरीर ही यहाँ रह जाएगा, तो इसके द्वारा जो भी कुछ मैंने किया, वह कुछ भी हमारा साथ नहीं देगा- अगर यह उत्तर आपको अपने में से मिलेगा तो चेतना आ जाएगी, जागृति आ जाएगी।

काम करते समय इस वैज्ञानिक सत्य को सामने रखो कि क्रिया-शक्ति के वेग को खर्च करने के लिए काम करना है। बचपन में समाज ने सहयोग दिया है तो आज समाज को सहयोग देने के

लिए काम करना है। अन्त में फिर असमर्थता की घड़ी आ रही है, फिर समाज से सहयोग लेना पड़ेगा तो थोड़ा-सा जो समय मिला अपने को-कि संसार के लिए, परिवार के लिए कुछ करने के लायक हुए- तो उस समय व्यक्तिगत सुख-भोग को न सोचकर परिवार और समाज के हित को सोचकर काम करो। इससे करने का राग भी मिट जाएगा और करने की शक्ति घटने से पहले, कर्म से ऊपर उठने की सामर्थ्य आ जाएगी। कामनाओं से शान्ति भंग होती है तो कामनाओं का संवरण करो; और कुछ करने से कुछ मिलेगा, तो जो मिलेगा उस पर मेरा निर्वाह होगा- इस भ्रम को दूर करो। कुछ करने से कुछ मिलता है और जो मिलता है वह शरीरों के ही काम आता है- इस बात को जानकर किए हुए कर्म और कर्म से उत्पन्न होनेवाली सामग्री और उस सामग्री से की जाने वाली शरीर की सेवा,-यह सब साधन रूप हो जाना चाहिए।

दूसरी बात है- हरि आश्रय ! हरि आश्रय में भी परम विश्राम मिलता है। वह क्या है, कि आस्था, श्रद्धा, विश्वास की दृष्टि से अनन्त परमात्मा को परम आश्रय-सर्वउत्पत्ति का आधार, सर्वप्रतीति का प्रकाशक मानकर उसी को जब अपने जीवन का आधार बना लो तब विश्राम मिलता है। 'अखिल लोक विश्राम' कहा गया है उनके सम्बन्ध में। तो आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक परमात्मा को अपने जीवन का आधार बना लेना-यह भी एक मुख्य बात है मनुष्य के जीवन को शान्त करने के लिए। भावुक हृदय के लोग, श्रद्धालु प्रवृत्ति के लोग सहज से इस बात को स्वीकार कर लेते हैं। जो इस बात को सहज रूप से नहीं मानते हैं, उनको फिर सत्कर्म के द्वारा करने के राग से निवृत्त होना, सत्संग के द्वारा सत्-असत् का विवेचन करना, इन्द्रियों को विषय-विमुख करके, मन को निर्विकल्प करके, बुद्धि को सम करके तीनों शरीरों से असंग होकर देहातीत जीवन में परम विश्राम पाना-यह एक क्रम स्वीकार करना पड़ता है।

विश्वास की दृष्टि से और विचार की दृष्टि से-दोनों ही दृष्टियों से- हम लोग साधक होकर जीवन को साधनमय बना सकते हैं। जो प्रभु को अपना आधार मानकर उनका आश्रय लेते हैं और उनके होकर रहना पसन्द करते हैं उनको आराम मिलता है। एक आराम की बात तो मैं निवेदन कर दूँ आपको, जो सहज से पकड़ में आ जाएगी, वह क्या है; कि हम सब लोगों ने ईश्वर की सत्ता को तो माना है, और वे ही अपने नित्य सम्बन्धी हैं, ऐसा भी सन्तों के कहने से हमने माना है। क्यों ? क्योंकि उनके अतिरिक्त सदा-सदा के लिए साथ देनेवाला सम्बन्धी संसार में कहीं कोई नहीं मिलता, इसलिए उनको माना। जिन्होंने सत्ता को स्वीकार किया, जिन्होंने उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया, उसका दैनिक क्रम कैसा बनता है ?- प्रातः सोकर जगते ही वे शान्त होकर बैठते हैं और अपने जीवन के आधार, परम प्रेमास्पद परमात्मा को याद करते हैं और याद करके अपनी सम्पूर्णता में सब विकारों सहित, सब दुर्बलताओं सहित अपने को उनके समर्पित करते हैं। किस दृष्टि से ? कि एक तो उनके जीवन का मन्त्र है कि 'मैं तुम्हारा ही होकर रहूँगा', और दूसरा यह है कि 'अपनी भूलों से मैंने तन को, मन को, सबको असमर्थ कर लिया। तो हे समर्थ स्वामी ! आपकी शरण में यह जीवन समर्पित है, आप अपनी कृपा से इसको सँभालें'-ऐसी भावना दिल में लेकर आप अपने को छोड़ दीजिए।

सद्‌गुरुदेव ने मुझको यह सलाह दी और कहा कि जिस समय तुम अपनी ओर से सब प्रकार का प्रयास छोड़ दोगे, सर्व-समर्थ स्वामी की कृपामयी गोद में अपने को छोड़ दोगे, उस समय तुम्हारा अपना अहम् जो है वह नरम हो जाएगा, कोमल हो जाएगा और मुझे कुछ नहीं करना है, मेरे मालिक समर्थ हैं, मेरे रक्षक समर्थ हैं, मेरे कर्त्ता समर्थ हैं-ऐसा मानकर उनकी कृपा-शक्ति के आश्रित हो जाओगे, तो जितनी देर तुम अहम् शून्य होकर कृपाश्रित होकर

रहोगे, उतनी ही देर में प्रभु की कृपा शक्ति तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरों के विकारों का नाश कर देगी।

सन्तजन कहते हैं कि अपनी ही भूल से संसार के संयोग-जनित सुख-भोग के लालच में हमने इतने प्रकार के मन में, तन में रोग पैदा कर लिए और भैया, अब तुम असमर्थ हो गए हो, अपने को सँभाल नहीं सकते हो, तो भी कोई बात नहीं। एक समर्थ पिता है तुम्हारा, तुम अनाथ नहीं हो। क्यों सोचते हो कि अपनी जिन्दगी को मैंने स्वयं बिगाड़ लिया, सुधरेगी नहीं। तुम अनाथ थोड़े हो। अपनी ओर की चेष्टाओं को छोड़ करके एकबार उसकी कृपामयी गोद में विश्राम ले लो- यह कहलाता है समर्पण योग।

अहं भाव के बने रहने में द्वैत का भास होता है, वेदान्त के उपदेश भी आपने सुने होंगे, पढ़ा भी होगा। अहं भाव जब तक बना रहता है, तब तक द्वैत का भास रहता है और जब तक 'मैं' और 'यह' दो का भास रहता है, तब तक वासनाओं के उदित होने का खतरा रहता है। ईश्वर-विश्वासियों के लिए ईश्वर-विश्वासी सन्त ने यह सलाह दी कि जब तुम अपने अस्तित्व को अपने हाथ पर नहीं रखोगे, अपने पर अपना अधिकार नहीं मानोगे, अपने में अपना संकल्प नहीं रखोगे, और सब प्रकार से उस समर्थ स्वामी के हवाले अपने को कर दोगे तो उन्हीं के नाते उनकी सृष्टि की सेवा करना और उनकी कृपामयी गोद में लेट जाना। भगवान की सृष्टि है, भगवान की दी हुई शक्ति है, भगवान के दिए हुए बच्चे हैं, भगवान का दिया हुआ काम है-'सब तुम्हारा है, सब तुम्हारा है, सब तुम्हारा है'-ऐसा सोचकर काम करो और काम करने की घड़ी खत्म हो जाए तो उस करुणामयी जगत्-जननी की गोद में विश्राम ले लो। काम करने के घण्टे भले चार हो जाएँ, छः हो जाएँ कोई बात नहीं। क्रियाशक्ति का वेग जितना-जितना शान्त होता जाएगा आपके विश्राम की अवधि उतनी-उतनी बढ़ती जाएगी। और ज्यादा नहीं

अगर ठीक पन्द्रह मिनट आप बिल्कुल अहं-शून्य रह सकेंगे, तो उतनी ही देर में आपके जीवन में एक अलौकिक शक्ति आ जाएगी, जो देहधर्म को मिटाकर आपको ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप से भेंट करा देगी। यह कल्पना नहीं है। यह जीवन का सत्य है।

अहं शून्य होने से विश्राम मिलता है। शरीरों से तादात्म्य तोड़कर निजस्वरूप की स्थिति में विश्राम मिलता है और अपने सहित सर्वस्व उस सर्वसमर्थ प्रेमास्पद के समर्पित करके उनकी कृपामयी गोद में विश्राम मिलता है। यह विश्राम व्यक्ति को अलौकिक जीवन देता है, वह विश्राम व्यक्ति को संयोग-वियोग से भिन्न नित्य-योग में मिलाता है। उस विश्राम का संपादन हम सब भाई-बहिनों को करना है। उसके बाद मिलने और बिछुड़ने का प्रश्न शेष नहीं रहता है, सदा-सदा के लिए मिट जाता है।

मीराजी के जीवन की एक घटना मुझे याद आ गई। वह ऐसी है कि जब राजा भोज के यहाँ जिस शरीरधारी पुरुष से माता-पिता ने सम्बन्ध जोड़ दिया था, उनका तो देहान्त हो गया था। मीराजी ने उनको पति कहकर स्वीकार नहीं किया था। लेकिन जो भगवद् भक्त होते हैं उनको किसी से द्वेष नहीं होता है, अभिमान नहीं होता है। जब मीराजी को मालूम हुआ कि महाराणा बीमार हैं तो सेवा करने गईं, पत्नी जैसे सेवा करती है, लेकिन उनके साथ बड़ी विलक्षण बात थी। वो क्या थी, कि सेवा करती जा रही हैं, सिर सहलाती जा रही हैं और याद दिलाती जा रही हैं-'महाराणा, नारायण मेरे कितने मधुर हैं। महाराणा, मेरे साथ नारायण का नाम लीजिए तो, आप भी गोविन्द-गोविन्द कहिए तो, आप भी गोपाल-गोपाल कहिए तो आपको बडा आराम मिलेगा।' उस शरीरधारी मरनेवाले पुरुष को उन्होंने गिरधर गोपाल की याद दिलाकर, और नारायण के अलौकिक प्रेम से पूरित अपने कर-कमलों के द्वारा उनकी सेवा करके उनको तार दिया। वे शान्त हो गए। उसके बाद

उनके भाई जब गद्दी पर बैठे तो उन्होंने बहुत तकलीफ दी, आप लोगों ने सुना ही है। कुछ दिनों के बाद मीराजी चली गईं देश छोड़कर। चली गईं तो यहाँ पर बहुत उपद्रव होने लगा, भक्त का अनादर करने से क्षोभ पैदा हुआ प्रकृति में, तो अकाल पड़ने लगा, प्रजा दुःखी होने लगी। तो एक कमीशन गया वहाँ, पण्डितों की मण्डली में घर के लोग भी गए कि महाराणाजी बुला रहे हैं। भक्त को अभिमान तो होता नहीं है, मीराजी ने कहा-"अच्छी बात है, बुला रहे हैं तो मैं चलती हूँ।" ऐसा कहकर उन्होंने कहा कि प्रतिदिन का जो हमारा नियम है उसके अनुसार मैं चलूँगी। द्वारिकाधीश के मन्दिर में अपने मालिक से आज्ञा ले लूँ, फिर आप लोगों के साथ चलती हूँ। वे मन्दिर में गईं। क्योंकि समर्पिता हैं, शरणागता हैं, वे अपना संकल्प रख नहीं सकतीं, तो प्रभु से कहा, " सजन सुधि ज्यों जानो ज्यों लीजे" अर्थात्, हे मेरे साजन जैसे आप ठीक समझें वैसा करें ! और उसके बाद दिल की बात कह रही हैं -

'दिन नहीं भूख रैन नहीं निंदिया, यह तन पल-पल छीजे,
मीरा के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुड़न नहीं कीजे।'

यह केवल संगीत नहीं था। उनका जीवन था और इतिहास प्रसिद्ध यह घटना है कि मीराजी का पांच भौतिक तत्त्वों से बना हुआ सम्पूर्ण शरीर प्रेम की धातु में परिवर्तित हो गया और द्वारिकाधीश के विग्रह में प्रवेश कर गया। सुना होगा आप लोगों ने, तो सितार का जो तार था, उसमें से ध्वनि निकल रही थी, मन्दिर की दीवारों में से, पूजा के पात्रों में से और प्रभु के विग्रह में से एक साथ ध्वनि की झंकार हो रही थी, 'मिल बिछुड़न नहीं कीजे, मिल बिछुड़न नहीं कीजे.........।' भक्त ने कहा, मिल बिछुड़न नहीं कीजे, अब भगवान व्याकुल होकर कह रहे हैं, "मिल बिछुड़न नहीं कीजे, मिल बिछुड़न नहीं कीजे।

भक्त और भगवान का मिलन ऐसा ही होता है कि एक क्षण में भक्त कहता है कि हे प्यारे, तुम मिल गए हो तो बिछुड़ना मत, तो दूसरे क्षण में भगवान कहते हैं कि हे प्यारे, मिल गए हो तो बिछुड़ना मत ! मीराजी सदा-सदा के लिए द्वारिकाधीश के विग्रह में प्रेम होकर समा गईं। यह अनन्त मिलन है, यहाँ संयोग और वियोग नहीं है। यहाँ मिलन और बिछुड़ना नहीं होता ! अनन्त काल तक प्रेम और प्रेमास्पद का प्रेम का आदान-प्रदान, अनन्त विहार चलता रहता है। वही परम विश्राम है। वही परम आश्रय है। वहीं जाकर के हम सदा-सदा के लिए जन्म-जन्मान्तर की थकान को मिटा पायेंगे। उस अनन्त परिणति का प्रोग्राम अपने सामने हम सब भाई-बहिनों को रखना चाहिए। घटनाएँ उस प्रकार की नहीं होंगी। घटनाएँ तो हर भाई-बहन के साथ नए ढंग की होंगी। लेकिन वह जीवन हम सब भाई-बहनों को मिलेगा कि जहाँ मिल-बिछुड़न नहीं होता, मिलने के बाद फिर बिछोह नहीं होता है। ऐसा हम सबका हो सकता है, और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह वर्त्तमान जीवन हम लोगों को मिला हुआ है।

विचारक भाई-बहन शरीरों से असंग होकर देहातीत जीवन में विश्राम पाएँ और विश्वासीजन परम-प्रेमास्पद की कृपामयी गोद में अपने को डालकर विश्राम पाएँ। भक्तों ने शरीर के रहते-रहते विविध रूप में उस विश्राम का वर्णन किया है ! एक भक्त कहते हैं, हरि आश्रय लेने के बाद अन्तर में जब ईश्वर की विभूतियाँ प्रकट होने लगती हैं तो क्रियात्मक साधनाएँ खत्म हो जाती हैं तो वही उसकी सार्थकता है। एक भक्त कहते हैं कि -

"माला जपूँ न कर जपूँ, मुख से जपूँ न राम,
हरि मेरा सुमिरन करें, मैं पायो विश्राम।"

'हरि मेरा सुमिरन करें" किसकी स्मृति उधर आने लगी। कैसे

भाई, क्या हो गया ? तो हे मेरे भाई-बहनो, आपने अपनी ओर से सब चेष्टाएँ, सब चिन्तन, सब भय, सब कुछ छोड़कर अपने को उनके समर्पित कर दिया जो सर्वसमर्थ है। तो जब हमारी ओर से अहंकृति शून्यता आ गई तो उस ओर से कृपाशक्ति का कार्य आरम्भ हो गया। अब अपने को कुछ करना नहीं है ! भक्त कहता है कि मैं तुम्हारी शरण हूँ और तुम जानो तुम्हारा काम जाने। तो भगवान कहते हैं कि मैं तुम्हारा रक्षक हूँ, अब तुम निश्चिन्त हो जाओ। तो वह निश्चिन्त हो जाता है। वह शान्त हो जाता है। वह परम विश्राम पाता है और प्रभु की कृपा-शक्ति उसे सँवारती रहती है।

ऐसा विश्राम मिलता है, साधनकाल में मिलता है, साधकों के जीवन में मिलता है और यही विश्राम उस अनन्त से हम लोगों को अभिन्न करता है। तो पहले जीवन का दृष्टिकोण बदलिए- मुझे चिर विश्राम चाहिए, मुझे अनन्त की शरणागति चाहिए, मुझे देहातीत जीवन का विश्राम चाहिए, चिर शान्ति चाहिए, निजस्वरूप का बोध चाहिए, ईश्वर का परम-प्रेम चाहिए-तो जीवन के उद्देश्य को आप निश्चित करिये। इसमें ज्यादा समय नहीं लगेगा। दो-चार दिन, एक सप्ताह का समय काफी है। सवेरे-सवेरे उठकर, बैठकर विचार करते रहे, और न को न कर दिया और हाँ को स्वीकार कर लिया। इतना पुरुषार्थ हर भाई, हर बहन कर सकता है। यह आप कर लीजिए, और चाहे विचार की दृष्टि से, चाहे विश्वास की दृष्टि से, चौबीस घण्टे के रुटीन (routine) में दो-तीन बार का समय विश्राम के सम्पादन में लगाइए। कहीं न कहीं आपकी वृत्ति जाकर के सत्य से जुट जाएगी। उसके बाद न सुनना शेष रहेगा, न समझना शेष रहेगा और न कुछ कहना शेष रहेगा। धीरे-धीरे विकास होता चला जाएगा, आन्तरिक शक्ति बढ़ती चली जाएगी और कब कैसे क्या हो गया, आप लोगों को पता भी नहीं चलेगा। काम पूरा हो जाएगा।

(82)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव जीवन में अध्यात्म का एक बड़ा भारी महत्त्व है। सन्त-वाणी में मैंने ऐसा सुना कि बनने-बिगड़ने वाले संसार की सहायता से अपने को जो इच्छा-पूर्ति का सुख और इच्छाओं की अपूर्ति का दुःख मिलता है, वह सुख-दुःख का द्वन्द्व व्यक्ति का जीवन नहीं है। वह तो अपनी ही भूल का परिणाम है। वह एक अपना भ्रम है, एक अवस्था है, वह जीवन नहीं है। वस्तुतः जिस जीवन की माँग हम लोग अनुभव करते हैं, वही सत्य है, वही जीवन है, उसमें मृत्यु नहीं है, अभाव नहीं है, नीरसता नहीं है।

पहले मैं ऐसा सोचा करती थी कि मुझमें माँग है इसीलिए मुझे उस जीवन की खोज करनी चाहिए। सन्त के पास बैठकर जीवन की व्याख्या सुनकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि चूँकि वह सत्य है और अभी इसी वर्तमान क्षण में विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का फल है कि हमें उसकी आवश्यकता महसूस होती है। उसी के तत्त्व से हम सब लोग बनाए गए हैं। उसी के संकल्प से हमारा आपका यह जीवन मिला हुआ-सा मालूम हो रहा है। इसमें सत्य की जिज्ञासा इसलिए है कि सत्य विद्यमान है। इसमें परम-प्रेम की प्यास इसलिए है कि उसी प्रेमतत्त्व से आप रचे गए हैं। इसमें सुख की आसक्ति से, दुःख-द्वन्द्व की दशा से छूटने का प्रश्न इसलिए है कि आपका अपना जो स्वरूप है वो दुःख-रहित ही है। दुःख-रहित धातु से आप रचे गए हैं और नित्य विद्यमान सत्य आपके जीवन के मूल में विद्यमान है। उसकी विद्यमानता का फल यह है कि खाते-पीते, सोते-जागते, जीते-मरते, सुख-दुःख भोगते उसकी आवश्यकता महसूस होती है। जो लोग उसकी आवश्यकता को महसूस करते हैं और उसकी पूर्ति का पुरुषार्थ करते हैं, वे उस दिशा में सब प्रकार से अपने को

सन्तुष्ट पाते हैं।

जन्म-मरण के परे जो नित्य जीवन है, क्षति-वृद्धि से परे जो सदा-सदा के लिए रहने वाला नित्यानन्द है, परमानन्द है, ब्रह्मानन्द है, वही अध्यात्म जीवन कहलाता है और उसी के विकास के लिए हम सब लोग प्रयत्नशील हैं। तो इस दिशा में हमें अभी इसी वर्त्तमान क्षण में क्या करना है ? कि किस प्रकार बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों के जाल से हम मुक्त हो सकते हैं ?-इस भ्रम का निवारण कर सकते हैं और किस प्रकार वह अध्यात्म जीवन, जिसमें मृत्यु, अभाव और नीरसता नहीं है, वह हमारे लिए प्रत्यक्ष हो सके-इसी का नाम सत्संग है। इसी का नाम साधन-निर्माण है। इसी का नाम साधन-तत्त्व की अभिव्यक्ति है और इसी का नाम साधक की साध्य से अभिन्नता है। अब इस दिशा में अभी वर्त्तमान की जो बात है, उस पर हम लोग थोड़ा विचार करें।

मैंने जीवन को देखा और अध्ययन की दृष्टि से देखा। ऐसा मालूम हुआ कि जो कुछ हो रहा है, उससे परे कुछ ऐसा भी है कि जिसके प्रकट हो जाने के बाद अपने को और कुछ करना शेष नहीं रहेगा और कुछ पाना शेष नहीं रहेगा। सन्त की शरण में बैठकर अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण किया मैंने, भीतर की जो आवश्यकताएँ हैं उनको सामने रखा। उनकी पूर्ति के विषय में जो कुछ उन्होंने बताया, सबका सब तो मैं मान नहीं सकी, लेकिन जो कुछ मैंने माना उसके परिणाम से मुझे बहुत जल्दी ही थोड़े ही समय में इस बात का पता चल गया कि वस्तुतः जो जीवन है उसके अनुभव में काल की अपेक्षा नहीं है। और अब कभी जब मै बैठती हूँ अकेले और सोचती हूँ तो मुझे साफ दिखाई देता है कि कैसा एक विलक्षण जीवन है मनुष्य का ! क्या है उसमें ?-कि अगर शरीरों के साथ अपने को मिला लो और शरीरों के माध्यम से संसार को देखना आरम्भ करो, तो देखो क्या-क्या दिखता है ? अगर शरीरों की

सहायता से दृश्य जगत् का किसी प्रकार का सुख लेना पसन्द करो, तो देखो क्या-क्या सामने आता है ? तो एक बड़ा भारी विस्तार दिखाई देता है। कहाँ तक जान सकेंगे- जानने का अन्त नहीं; कहाँ तक देख सकेंगे- दृश्यों का अन्त नहीं; कहाँ तक सुन सकेंगे- ध्वनि का अन्त नहीं; कहाँ तक सुख की इच्छाएँ रख सकेंगे उसकी कल्पना का अन्त नहीं; कहाँ तक दुःख का भार ढो सकेंगे-उसका कोई अन्त नहीं। ऐसा यह होता है। और सत्संग के प्रकाश में थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाइए, अकेले हो जाइए। मैंने बहुत कुछ देख लिया, अब मुझे कुछ नहीं देखना; मैंने बहुत कुछ सुन लिया, अब मुझे कुछ सुनना नहीं है; मैंने बहुत कुछ कह लिया, अब मुझे कुछ कहना नहीं है-इस प्रकार कर्म को छोड़ दिया तो स्थूल शरीर से साथ छूट गया; चिन्तन को छोड़ दिया तो सूक्ष्म शरीर से साथ छूट गया और कारण शरीर की स्थिति की शान्ति जो है, उसको भी पकड़ कर न रहें, तो उसका भी साथ छूट जाता है। तो इतना विचित्र लगता है कि केवल शरीरों के माध्यम से संसार के संयोग में करने वाली क्रियाओं को अपनी ओर से छोड़ दिया जाए, केवल इतनी-सी बहादुरी हम लोग कर सकें, तो जीवन का दृश्य ऐसा पलट जाता है कि उसमें फिर प्रकाश ही प्रकाश है, शान्ति ही शान्ति है, रस ही रस है, प्रियता ही प्रियता है, इनके अतिरिक्त और कुछ वहाँ है नहीं।

जैसे ही हम शरीर और संसार के संयोग-जनित क्रियाओं को छोड़ते हैं अथवा उन क्रियाओं में जीवन-बुद्धि अस्वीकार करते हैं तो इतने मात्र से ज्यों ही हमारी जीवनी शक्ति बाहर से पलटकर भीतर की ओर जाती है और वहाँ जाकर अपने उद्‌गम से जुटती है, तो तत्काल ही हम लोगों का दृश्य बदल जाता है। हमें स्पष्ट दिख जाता है कि जो सत्य है वही प्रकट है; जो सनातन है वही विद्यमान है; और जो परम-प्रिय है, प्रेम का अनन्त सागर है उसकी मधुरता में

सीमित अहं भाव की सीमा भी गलकर, घुलकर, मिटकर समाप्त हो जाती है। तो सचमुच जो जीवन है वो कितना सुन्दर है, कितना प्रिय है, कितना मधुर है ! जिसमें दुःख का लेश नहीं, मृत्यु का स्पर्श नहीं, जिसको हम इतने दिनों से सोच रहे थे कि ऐसा चाहिए, वह तो नित्य निरन्तर विद्यमान ही है। प्रभु का विधान इतना मंगलकारी है कि तुम जिस एक भ्रम को लेकर बैठे हो केवल उसको छोड़ दो। छोड़ने में तो कोई प्रयास नहीं है, वह कोई गाँठ नहीं है जो कोई मेहनत और बुद्धिमानी लगाकर खोलना पड़े।

हमारे आपके अहं की रचना ऐसी विलक्षण है कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता। मैंने स्वीकार कर लिया था असत् के संग को, शरीर और संसार के संयोग को, तो मेरी ही स्वीकृति से शरीर और संसार का सब प्रभाव मुझ पर लद गया था-बस, उस स्वीकृति को बदल डालने की बात है ! अब स्वीकृति को तो बदलो नहीं, और आँखों को साफ करने की कोशिश करो, मन को, बुद्धि को साफ करने की कोशिश करो; तो जिस असत् में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने मात्र से इन सब पर असत् का रंग चढ़ गया था, उस असत् में जीवन-बुद्धि अस्वीकार न करो तो दूसरे किसी उपाय से रंग उतरता नहीं है।

बहुत दुःखी होते रहते हैं हम लोग। भीतरी बात यह है कि अहं रूपी अणु है, जिसको हम लोग 'मैं' कहकर सम्बोधित करते हैं; यह मैं हूँ, ये मेरे विचार हैं, ये मेरी अवस्थाएँ हैं, यह मेरे दुःख हैं, यह मेरे सुख हैं- इस प्रकार यह सिलसिला आरम्भ हो जाता है। बड़ा लम्बा-चौड़ा विस्तार है, जिसका कोई अन्त नहीं है। शरीर का नाश हो जाएगा पर सुख-दुःख के अनुभवों का नाश नहीं होता है; सूक्ष्म शरीर का भाव रह जाता है और उसमें अंकित हुए प्रभाव, इच्छाओं की पूर्ति के सुख का राग, और इच्छाओं की अपूर्ति के दुःख का

क्षोभ-सब उसमें अंकित रह जाता है। बारम्बार शरीर बदलता चला जाए, चेतना घटती चली जाए, जड़ता बढ़ती चली जाए, सूक्ष्म शरीर में अंकित प्रभावों का अन्त नहीं होता। लोग परेशान होते हैं कि कैसे करें, इसमें रहस्य इतना ही है कि मनुष्य का जो यह 'मैं-पन' रचा गया, इस 'मैं-पन' में ऐसी विचित्रता है कि इसमें अपने ही द्वारा बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों में जीवन-बुद्धि को स्वीकार कर ले तो उस पर बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों का प्रभाव बनने लग जाता है। अब उस स्वीकृति का तो बदलो नहीं और प्रभाव से बचना चाहो-यह होता ही नहीं है किसी प्रकार से। अपनी ही स्वीकृति से जिसके प्रभाव में हम लोग फँस जाते हैं, अपनी ही अस्वीकृति से हम इन प्रभावों से मुक्त हो जाते हैं-बस इतनी-सी बात है। तो एकदम मुझे ऐसा लगता है कि जैसे कोई व्यक्ति सो गया और नींद में खूब भंयकर स्वप्न देख रहा हो, खूब दुःखदायी बातों को देख रहा हो और घबरा रहा हो, रो रहा हो, चिल्ला रहा हो तो उसको पकड़ कर जगा दिया जाए; आँख उसकी खुल जाएँ तो सब भ्रम, सब भय, सब दृश्य खत्म। वहाँ न कोई डर रहेगा, न डराने वाला दृश्य रहेगा और न उसके प्रभाव का दुःख रहेगा। बस इतनी-सी बात होती है। जरा-सी देर में ही हम अपनी ही भूल से महादुःख-जाल में फँस जाते हैं। दुःख-जाल में भी फँसते हैं, सुख-जाल में भी फँसते हैं।

महाराजजी ने एक जगह पर ऐसे कहा, भैया, देखो ! सुखी आदमी दुःखी नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। सुखी आदमी भी घोर दुःखी है, क्योंकि वह सुख की दासता में फँसा हुआ है। ऐसा मत समझो कि वह दुःखी नहीं है। तो इस प्रकार से आदमी दुःख-जाल में, सुख-जाल में फँसा हुआ है। अब उसने ज्ञान के प्रकाश में, सन्त के सम्पर्क में, सत्संग के आधार पर अपनी उस भूल को मिटा दिया, अर्थात् बनने-बिगड़ने वाले, उत्पत्ति-विनाश युक्त दृश्यों में से जीवन बुद्धि को अस्वीकार कर दिया, तो इस अस्वीकृति मात्र से उसका

दुःख से सम्बन्ध टूट जाता है और मैं क्या बताऊँ ?-उसके बाद व्यक्ति को फिर कोई नया जप, तप, भजन करना पड़ेगा-ऐसी कोई बात नहीं है। करने वाला अध्याय तो खत्म हो गया ! और न करने के जीवन में उसकी ऐसी सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है कि आप स्वयं भी देखकर आश्चर्य-चकित रह जाएँगे कि वह सब कहाँ गया और यह सब क्या है।

मुझे यह सोचकर भगवान के विधान पर बहुत प्रसन्नता होती है कि उन्होंने मुझ पर कितनी जिम्मेदारी डाली है-केवल इस बात की जिम्मेदारी कि तुमने अपनी भूल से जो अवस्था पैदाकर ली, उस भूल का त्याग करो, उस भूल को तुम मिटाओ। उस भूल-जनित परिणामों को हटाने का दायित्व मुझ पर नहीं है, बिल्कुल नहीं है। असत् के संग से मिलने वाले सुखों की वासना मुझे अपनी ओर से छोड़नी पड़ेगी और वासना के त्याग से भी पहले, असत् के संग में सुख है-इस भ्रम का त्याग करना पड़ेगा। शरीर 'मैं' हूँ, शरीर से ही मेरा जीवन है, शरीर के द्वारा संसार में कुछ करने का मजा जीवन है-इस भ्रम को मुझे छोड़ना पड़ेगा। तो इस भ्रम के त्याग मात्र से अपने अहं में एक आमूल परिवर्तन होता है, फिर उस परिवर्तन के आधार पर व्यक्ति निर्भय हो जाता है, निश्चिन्त हो जाता है। सुख के प्रभाव से अपने को ऊपर उठाना बहुत ही सहज बात हो जाती है। बड़े ही स्वाभाविकता से जीवन का क्रम बदल जाता है।

जब कभी मैं अकेली होती हूँ तो इस प्रकार का क्रम रखती हूँ जीवन में- कि जब काम करने का समय हो तो साधन-बुद्धि से किया जाए और काम से जब फुर्सत मिले तो अकेले रहा जाए, शान्त रहा जाए,-तो इस क्रम में मुझे बहुत आनन्द आता है। केवल भूल-जनित बात को अस्वीकार कर देना मेरा काम है। और सत्य क्या है ? वह तो विद्यमान ही है। उसका प्रकाश कैसा है ? यह तो फिर किसी से

पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस अविनाशी जीवन में कितनी मधुरता है, कितना रस है, कितनी सामर्थ्य है, यह नाप-तौल करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। बहुत प्रत्यक्ष है और सभी के लिए समान रूप से सत्य है; सर्व-काल में, सर्व-देश में और सब प्रकार के साधकों के लिए एक ही विधान है। पूर्ण समता है उसमें ! सभी का समान रूप से प्रवेश है उसमें। क्यों ? क्योंकि उसके लिए कोई नई योग्यता, कोई नया बल नहीं चाहिए। तो एकदम ऐसा लगता है मुझे कि असत् में जीवन बुद्धि स्वीकार करो, तो दिखता है-कि सुख है, दुःख है, दृश्य है, यह है, वो है; और सत्संग के प्रभाव से उस भूल को अपने द्वारा अस्वीकार कर दो तो बिल्कुल ऐसे पलक मारते जीवन बदलता है कि जिसमें प्रकाश ही प्रकाश है, रस ही रस है, दुःख का नाम नहीं है, मृत्यु का स्पर्श नहीं है। वो ही तो है-'है' कहकर जिसको सम्बोधित कर सकते हैं। सचमुच वो ही है, और तो कुछ नहीं है। अब उसको आप अपनी भाषा में ब्रह्म कहना चाहें, तो ब्रह्म कह लीजिए; सत्य कहना चाहें सत्य कह लीजिए; परम तत्त्व कह लीजिए, निर्वाण कह लीजिए, भगवान कह लीजिए-जैसी भी आपकी रुचि हो। जिन-जिन महापुरुषों ने जीवन में सत्य को पाया, उन्होंने अपने-अपने ढंग से उसको अलग-अलग नाम देकर सम्बोधित किया, लेकिन है वो ही। वो एक ही है और सदा-सदा से वो ही विद्यमान है और सदा-सदा तक वो ही रहने वाला है।

जब साधक किसी सन्त के पास बैठकर साधना पूछता है और वे बता देते हैं, तो दो ही बातें होती है-या तो शरीर और संसार से असंग होकर शान्त हो जाओ या फिर अगर तुम श्रद्धावान् व्यक्ति हो, प्रभु की सत्ता में श्रद्धा है तुम्हारी, तो उन सर्व-समर्थ परम-पवित्र, अत्यन्त मधुर रसमय अस्तित्व, जिसको हम भगवान कहकर सम्बोधित करते हैं उन सर्व समर्थ की शरणागति स्वीकार करके, अपने को उनकी शरण में समर्पित करके शान्त हो जाओ। असली उपाय तो

यही है-ऐसा बता दिया जाता है। तो क्या होता है, कि विचार-पथ के साधक शरीरों की असंगता को प्रधानता देते हैं और विश्वास-पथ के साधक प्रभु की शरणागति को महत्त्व देते हैं। किसी भी प्रकार से चुप हो जाए तो थके हुए व्यक्ति को आराम का बहुत बढ़िया अनुभव होता है। जिनकी परिस्थितियाँ अनुकूल हैं वे भी थकते हैं, लेकिन उस थकावट को महसूस कम करते हैं; और जिनकी परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती हैं, वे थकावट को ज्यादा महसूस करते है। ऐसे थके हुए लोगों में से मैं भी एक हूँ जिसने प्रतिकूलता के साथ खूब संघर्ष करके अपनी थकी हुई दशा को अच्छी तरह से अनुभव किया था।

मुझे याद है, स्वामीजी महाराज ने जब मुझे विश्राम का मार्ग दिखाया, तो मुझे कितना आराम मालूम होता था। अब उसके बाद क्या हुआ, कि मेरी पुरानी भूलों के प्रभाव से तन में, मन में, बुद्धि में, इन्द्रियों में सब जगह जो विकृतियाँ पैदा हो गई थीं वे दिखाई देने लगीं। जब असत् के संग को अस्वीकार करो तो मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ-सब के संग को अस्वीकार करना चाहिए। यह बात पकड़ में आती है न ? अगर अपने को सर्वसमर्थ के समर्पित किया तो अपने को तो उनके समर्पित कर दें और मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियों को पकड़ कर अपनी मुट्ठी में रखें कि यह हमारे हैं, तो यह समर्पण है ? नहीं है। समर्पित किया तो सब कुछ किया। अब साधक से भूल क्या हो जाती है ? समर्पण-काल में, असंगता काल में जब वह शान्त होकर बैठता है, तो उस समय उसको मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियों के वर्तमान हाल को देखने की विशेष सामर्थ्य मिल जाती है, और जब साफ-साफ दिखने लगता है तो समर्पित साधक उनको फिर से पकड़ लेता है। क्या बताएँ-हमने अपने को भगवत् समर्पित कर दिया, लेकिन यह सब तो गन्दे दिख रहे हैं। तो क्या है कि एकबार जब सर्वसमर्थ के समर्पित कर दिया तो सब वस्तुएँ उनकी हो गई। तन, मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब कुछ उनकी हो गईं, तो उनको

अब काम करने दो। उनकी कृपा-शक्ति को सफाई करने दो, शान्त करने दो। फिर से उनको पकड़ कर आप परेशान क्यों हो रहे हैं ? अगर आप परेशान हो रहे हैं तो इसका मतलब यह है कि आपने कुछ तो परमात्मा को दिया और कुछ अपने पास रख लिया, आपने कुछ से असंगता स्वीकार कर ली और कुछ से संग रख लिया। अधिकांश साधक बेचारे इसी बिन्दु (point) पर आकर अटके रह जाते हैं।

अध्यात्म जीवन कोई ऐसा जीवन नहीं है कि जिसके लिए हम प्रयास करते चले जाएँ, मरते चले जाएँ और वह मिलेगा नहीं ? ऐसी बात नहीं। वही नित्य जीवन है, जो सर्वदा विद्यमान है, वही अकेला एक सत्य है और बाकी सब कुछ उसका विस्तार है। अब इस विस्तार को देख-देखकर हैरान होते रहो और चिरन्तन सत्य में आस्था न करो, तो बीमारी का कोई इलाज है ? कहीं नहीं है। जो एक-एक क्षण में अपनी आँखों के सामने से निकलता चला जा रहा है, ओझल होता जा रहा है, मिटता जा रहा है, उस मिटने वाले में इतना विश्वास है कि जीवन काल में भी हम लोग उसको सँभाल कर रखना चाहते हैं और कुछ ऐसा करके जाना चाहते हैं कि मेरे मरने के बाद भी बर्बाद न हो। इस दिशा में तो हमारी चेष्टा है और जो स्वतः विद्यमान है, जहाँ प्रकाश ही प्रकाश है, आनन्द की आनन्द है, रस ही रस है, जहाँ दुःख नहीं है, अप्रियता नहीं है, नाश का लेश नहीं है, तो उसमें क्या जाने क्या होगा ? कब कैसे होगा ? यही हमारा भ्रम हमको उस सत्य से अभिन्न नहीं होने देता।

सन्त की सलाह से शरीर को लेकर हम संसार की बहुत बढ़िया सेवा कर सकते हैं। हम चाहें तो उपार्जित की हुई सम्पत्ति को लेकर बहुत से दुःखीजनों के आँसू पोंछ सकते हैं, चाहें तो शरीर का बल लेकर, बहुत से निर्बलों को सहारा देकर गिरे हुओं को उठा

सकते हैं। फिर जब चाहें तब उस शरीर की संगति को छोड़कर, उसमें जीवन बुद्धि अस्वीकार करके, अकेले होकर, शान्त होकर, सब साथियों से सम्बन्ध-विच्छेद कर उस सत्य नित्य जीवन के समर्पित होकर वास्तविकता का आनन्द ले सकते हैं। उस आनन्द के अनुभव में जन्म-जन्मान्तर की थकान मिटा सकते हैं। उस शरणागत-वत्सल की कृपालुता का स्वाद लेकर उनके मधुर रस की मिठास में जन्म-जन्मान्तर की अतृप्ति का नाश कर सकते हैं।

साधन काल का अनुभव बताती हूँ मैं, कि जैसे ही आप उस अजर-अमर, अविनाशी का आश्रय अपने लिए स्वीकार करते हैं कि भय मिट जाता है, चिन्ता मिट जाती है, शक्ति बढ़ जाती है, सरसता बढ़ जाती है, और भीतर से इन तत्त्वों की वृद्धि जब होने लग जाती है, तो इतना अच्छा लगने लगता है कि कभी-कभी तो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक रोग को भूल ही जाता है; कष्ट का पता ही नहीं चलता। ऐसा प्रयोग मैंने अनेक बार किया है और महाराजजी को भी करते हुए देखा है। तो मैं यह निवेदन कर रही थी कि सचमुच जो जीवन है वह इतना आनन्दमय है, जितने की आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं, अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं। सुख-दुःख के द्वन्द्व में झूलता हुआ व्यक्ति, जिसकी कुछ शक्ति सुखभोग में जा रही है, कुछ शक्ति दुःख से बचने के लिए खर्च हो रही है और कुछ शक्ति मिथ्या-अभिमान की रक्षा में खर्च हो रही है- इस प्रकार से शक्तियों का अपव्यय करने वाले दुर्बल-निर्बल व्यक्ति को तो कुछ पता ही नहीं चलता है। लेकिन जिसके भीतर चेतना जग जाती है, सत्संग का चाव लग जाता है, सन्तों के सम्पर्क का आनन्द आ जाता है, वे जब इस साधना में प्रवेश करते हैं तो उनको अपने आनन्द के उस आध्यात्मिक विकास का अनुभव करने में देर नहीं लगती है। सिद्ध-जीवन की चर्चा मैं नहीं करती हूँ, उसकी चर्चा की तो आवश्यकता ही नहीं है। क्या कहेंगे ? क्या सुनेंगे ? उस

समय कहना-सुनना कुछ रहता नहीं है। सन्त कबीर कहते हैं, ''मन मस्त हुआ तब क्यों बोले, हंसा पायो मानसरोवर, ताल-तलैया क्यों डोले ?'' डोलना-बोलना सब खत्म हो गया। उसकी चर्चा मैं नहीं करती हूँ। जिस दशा में हम सब लोग इस समय फँसे हुए हैं, उसमें से निकलने की बात मैं कह रही हूँ। यहाँ से हमें अपने को देखना है और कदम उठाना है।

सबसे आवश्यक बात यह है कि इस समय से लेकर के कल प्रातःकाल पुनः हम मिलेंगे-इस चौबीस घण्टे के भीतर हम सबको जो थोड़ा-थोड़ा समय मिले उसमें अकेले बैठकर अपनी ओर देखना और सोचना चाहिए। अपने अहं की जो बनावट है, उसमें इतनी सामर्थ्य परमात्मा ने दे दी है कि हम जब चाहें तब भ्रम का निवारण कर सकते है; और भ्रम की निवृत्ति और सत्य की अभिव्यक्ति युगपद् है- साथ-साथ हो जाती है-इसका अनुभव कर सकते हैं। तो जिसको जब मौका मिले तब शान्त रहिए ! और मेरा विश्वास बन गया है कि सचमुच अगर अपनी ही महिमा आपकी समझ में आ जाए, अपनी ही विलक्षणता आपकी दृष्टि में स्पष्ट हो करके उभर आए, कि सचमुच मुझमें यह सामर्थ्य है, कि मैं जब चाहूँ तब अपने असत् के संग जनित भ्रम का निवारण कर सकता हूँ-तो केवल इतना ही हिस्सा हमारे करने का है। भ्रम का निवारण हुआ नहीं कि सत्य की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। उसमें कोई प्रयास अपेक्षित नहीं है और उसमें कोई देर नहीं लगती है।

महाराजजी ने कहा कि सूर्य का उदय होना और अन्धकार का नाश होना एक साथ होता है। ऐसा नहीं है कि अब सूर्य का उदय हो गया तो धीरे-धीरे अन्धकार को मिटाने की चेष्टा की जाएगी। ऐसा कभी सुना है ? ऐसा तो नहीं होता है। सूर्य का प्रकाश आया तो अन्धकार का नाश हो गया तत्काल। ऐसे ही अपनी भूलजनित

रूढ़ियों को अस्वीकार करना अपना पुरुषार्थ है और हमने उनको अपनी ओर से अस्वीकार किया नहीं कि सत्य के प्रकाश की अभिव्यक्ति और उसका अनुभव तत्काल इसी समय, इसी जीवन में आरम्भ हो जाता है। भले किसी का रोगी शरीर हो, भले किसी के पास धन की कमी हो, भले किसी के कुटुम्बियों में प्रेम और विश्वास की कमी हो गई हो, कोई चिन्ता की बात नहीं है। इन बाहरी परिस्थितियों के अनुकूल और प्रतिकूल होने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उसमें कुछ घटाना, बढ़ाना, जोड़ना, काटना कुछ नहीं है; जैसे का तैसा, ज्यों का त्यों सदैव और सर्वत्र विद्यमान है। जो भ्रम हमने कर लिया है, उसको मिटाने का प्रश्न अपने लोगों के सामने है।

इसी सम्बन्ध में आध्यात्मिक चेतना, आध्यात्मिक विकास, आध्यात्मिक विकास के कार्य, उसकी साधना, बाधाएँ, उसकी चर्चा हम लोग करते रहेंगे। बाधाओं के निवारण का उपाय हमारे सामने आ जाएगा तो विवेचन का काम पूरा हो जाएगा। उन उपायों को धारण करके हम आगे बढ़ चलेंगे तो जीवन की सब समस्याएँ हल हो जाएँगी।

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी, सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी

कृपा से, मानव-मात्र को, विवेक का आदर तथा

बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य

प्रदान करें, एवं

हे करुणासागर !

अपनी अपार करुणा से, शीघ्र ही, राग-द्वेष का

नाश करें। सभी का जीवन, सेवा

त्याग प्रेम से परिपूर्ण

हो जाय।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

मूल्य Rs 30

३००० प्रतियां
सितम्बर-१९९७